

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182931

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H

80

Author

697P

Accession No.

P.G.H. 1016

Title

यौनिक

जुन १२/२१/२०१

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रतीक

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

६

वसंत

संपादक

सियारामशरण गुप्त

नर्मोद

श्रीपतराय

११ - ३१ - १९३३

क्रम-सूची :

यह वसंत सब कर तेवहारू	: [संकलित]	...	३
प्राचीन भारतीय साहित्य में जन			
का स्थान	: मोतीचंद्र	...	१५
हिंदी आलोचना का धरातल	: देवराज	...	३३
लक्ष्मा का जुकाम	: शांति देवबाला	...	४१
माधवी और कर्णिकार	: राय आनंदकृष्ण	...	४५
न माँगो	: भगवतीचरण वर्मा	...	४६
उषस्	: नरेशकुमार मेहता	...	५०
क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?	: बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	...	५१
सुभद्राकुमारी चौहान : एक अध्ययन	: रामशेरबहादुर सिंह	...	५२
शैली की समस्या	: सुरेंद्रनाथ त्रिपाठी	...	६०
दलदल	: अकलंक मेहता	...	७४
वासना	: शीतलासहाय श्रीवास्तव	...	८४
नवभारत में अंग्रेजी साहित्य	: म्युरियल वसी	...	८८
बट्टेड रसेल का दर्शन	: श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रभाकर माचवे	...	९३
नव वसंत आ !	: देवराज	...	१०८
शाम का मेहमान	: गणेशप्रसाद द्विवेदी	...	१०९
उपसंहार [संपादकीय]	: श्री०	...	१२१
लेखक-परिचय	:	...	१२५

‘यह वसंत सबकर तेवहारू !’ ❀

कालिदास

[उज्जयिनीधाम्नी, ईश्वरी लुट्टी शक्ती]

कुसुमजन्म तनो नवपल्लवास्वदनु षड्भुक्तोक्किलकृजिनम् ।
 इति यथाक्रममविभून्मधुर्द्रुमतीमवतीर्थ वनस्थलीम् ॥
 विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रशिषकाः ।
 मधुलिहां मधुदानावसारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः ॥
 उपहितं शिशिगपगमश्रिया मुकुनजालमशोभत किंशुके ।
 प्रणयिनीव नखन्ततमडन प्रमदया मदयापितलज्जया ॥
 अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकंपितपल्लवा ।
 अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥
 प्रथममन्यभृता भरुदीरितः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
 सुरभिगंधिषु शुश्रुषिरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥
 श्रुतिसुखभ्रमरस्वनीतयः कुसुमकोमलदंतरुचो बभुः ।
 उपवनांतलता पवनाहृतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥
 अमदयन्मधुगंधसनाथया किसलयाधसंगतया मनः ।
 कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥
 त्यजत मानमलं वत विग्रहेर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
 परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूमनः ॥

कुसुम, फिर पल्लव, उनके साथ भौरे और काकिल का कूजन ; इस प्रकार द्रुमवती वनस्थली में वसंत यथाक्रम अवतीर्ण हुआ ।

‘यह वसंत सबकर तेवहारू !’

वनश्री की देह पर वसंत द्वारा रचे हुए चित्रकों जैसे, मधुदानी कुरवक भौरों के गुंजार के कारण बने ।

शिशिरांत-श्री द्वारा दिया हुआ मुकुल जाल किंशुक पर ऐसा शोभित हुआ, म मदपान से विगलित-लज्जा प्रमदा ने अपने प्रणय की देह को नखत्तों से मंडित दिया हो ।

कलियों से लदी और मलय से कंपित-पल्लवा सहकारलता, रागद्वेषजयी मुनियों भी मत्त करने के लिए अभिनय का अभ्यास करने को उद्यत हुई ।

कुसुमित मुरमित वनगजि में कोकिलों की पहली पुकारें वधुओं के विरल अटपटे बोल-सी सुनायी दीं ।

फूलरूपी दाँतोंवाली उपवन के छोर की लताएँ भ्रमर-स्वनरूपी गीत गाती हुई पवनाहत किसलयरूपी हाथों से ताल देने लगीं ।

तरुचारुविलासिनी नव मल्लिका ने, अपने किमलय रूपी अधरों की मधु-गंधमयी कुसुमसंभृत मुस्कान से मन मोह लिया ।

‘आओ, मान-विग्रह छोड़ो; दीता यौवन फिर नहीं आयेगा !’ कोकिलों के स्वर द्वारा मदन का यह अभिमत जानकर वधूजन लीला-प्रवृत्त हुईं ।

रघुवंश, नवम

मलिक मुहम्मद जायसी

[जायस के निवासी, ईसवी सोलहवीं शती]

प्रथम बसंत नवल ऋतु आई । सुऋतु चैत बैसाख सोहाई ।
चंदन चीर पहिरि धनि अंग । सेंदुर दीन्ह विहँसि भरि मंगा ।
कुसुम हार औ परिमल बासू । मलयागिरि छिरका कबिलासू ।
सौर सुपेती फूलन डासी । धनि औ कंत मिले सुखबासी ।
पिउ सँजोग धनि जोबन शरी । भौर पुहुप सँग करहिं धमारी ।
होइ फाग भलि चाँचरि जोरी । विरह जराइ दीन्ह जस होरी ।
धनि ससि सिरिस, तपै पिय सूरू । नखत सिंगार होहिं सब चूरू ।

पद्मावत, षट्-ऋतुवर्णन खंड

‘यह वसंत सबकर तेवहारू !’

टामस नैश

[अंग्रेजी कवि, सोलहवीं शती]

यह वसंत, मधु वसंत, ऋतुओं का गजा मनोनीत
जिसमें खिलती हैं कलियाँ, बालाएँ करती रँग-रलियाँ
नहीं डँसता शीत, गाते सुभग खग गीत
कू-कू ! जग-जग ! पु-वी ! टु-विटा-वू !

.....

खेतों की साँसे गंध-अलस, डेजी करते हैं चरण परस
प्रेमी पाते हैं प्रिया-दरस, प्रौढ़ाएँ लेती आतप का रस
गली-गली में बरस बरस जाता खग-गीत सुधारस—
कू-कू ! जग-जग ! पु-वी ! टु-विटा-वू !

सेनापति

[अनूपशहर निवासी, सत्रहवीं शती]

बरन-बरन तरु फूल उपवन बन
सोई चतुरंग संग दल लहियत है ;
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल ह
गुंजत मधुप-गान गुन गहियत है ।
आवे आस-पास पुहुपन की सुवास, सोई
सोंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है ।
सोभाकौ समाज सेनापति सुख-साज, आज
आवत बसंत रिनु राज कहियत है ॥

कविस-रत्नाकर

‘यह वसंत सबकर नवहारू !’

शेख निसार

[शेखपुरा, अवध के निवासी, अठारहवीं शती]

रितु वसंत बन आदिन फूला । जोगी जती देखि रँग भूला ।
पूरन काम कमान चढ़ावा । बिगही हिँएँ बन अस लावा ।
फूले फूल सखी गुंजारहिं । लागी आग अनार के डारहिं ।
कुसुम केतकी मालति बासा । भूले भँवर फिरहिं चहुँपासा ।

देसू फूल तो कीन्ह अँजोरा । लागी आग जैरे चहुँ ओरा ।
तुन फूलें औ आँव फुलाने । करुना करों दिस बास बसाने ।
फेरी त्याग भिरंगि दुख दाहे । कानन भाँवर सदा मुनाए ।
यह रितु चित कैसे रहै, मड़े बिरह के पीर ।
पहुप देखि वसंत रितु, कैसेहु धरै न धीर ॥

यूसुफ-जुलेखा, पङ्क्तु खंड

पद्माकर

[बाँदा निवासी, अठारहवीं शती]

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
बयारिन में कलिन कलीन किलकंत हैं
कहे पद्माकर परागन में पान हूँ में
पानन में पीक में पलासन पंगत हैं ।
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत हैं ।
बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में ।
बनन में बागन में बगरो बसंत है ॥

कालीदत्त

[बुंदेल-खंड वासी, उन्नीसवीं शती]

गहब गुलाब गल चटक चमेलिन के बेलन के विदल दुमेलन दला परैं ।
 कालीकवि सघन रसालद्रुम कुंजन में कोकिला कलापन के हहलहला परैं ।
 प्रसरत मंजु मृदु मारुत मलय मंद सरस सुगंधन की सकल कला परैं ।
 मोद मद मंथर मलिंद मन वारिन के मधु मकरंदन पै भूपक भूला परैं ।
 लरम लकीने लफलौलहे लवोदन की लतन लदाऊ लौद लदलतरी फिरै ।
 कालीकवि कुंज प्रति कोकिला किशोरिन के कलह कुलाहलते कलन करी फिरै ।
 सुरभि सुगंधित पिशंगित पराग रज पवन तरंग बन भवन भरी फिरै ।
 गौरन पै गहब गुलाब गुल भौरन पै लदबद भौरन की पदर परी फिरै ।

हनुमन्पनाका

हेनरिक हाइने

[जर्मनी, उन्नीसवीं शती]

भीमी धीमी घंटियों की गूँज से
 गाते हैं, विचार मेरे मानस में मृदुतर :
 गूँजो, गाओ, मेरे गीत, नूतन वसंत गीत,
 उड़े चलो नील नभ भेद कर

मुकुलित कुसुमों के भवन की ओर चलो
 पंखों पै प्रतिध्वनि के सत्वर सवार हो—
 दीखे कहीं राह में गुलाब तो यों कहना :
 मग्न, मेरे कवि का प्रणाम लो !

‘यह वसंत सबकर सेवहार !’

अफनसी फेट

[रूस, उन्नीसवीं शती]

मैं फिर आता हूँ नया उपहार लेकर
तुम्हें कहने कि प्रभात सुंदर है
कि मंजरियाँ ओस कणों से भीजी हैं,
और नयी धूप में चित्रमयी !

कहने, कि वनस्थली अँगड़ाई ले रही है
हर कुंज की हर शाखा में
कि सद्य जागे पक्षियों की काकली में
उसकी आतुर प्यास मुखरित हो उठी है !

कहने, कि सब कुछ से भेंटता हुआ
आनंद समीरण में बह रहा है ।
कि मैं क्या गाऊँगा, यह अभी न जानता हुआ भी
मैं जानता हूँ कि गान मुझमें जाग उठा है !

सयद मीरअली ‘मीर’

[उर्दू कवि, उन्नीसवीं शती]

गुलशन में आग लग रही थी रंगे-गुल से ‘मीर’,
बुलबुल पुकारी—‘देख के साहब ! परे-परे !’

‘शाअल्ला खाँ इंशा’

[दिल्ली निवासी, उर्दू कवि,—शती]

शादाबिह हवा में ये कैफीयत अबके है
सा रङ्ग के शगुफ्ता हैं गुल शाखसार पर ।
अशजार भूमते हैं पड़े सेहने बाग में
ताक एडते हैं सुस्त पड़े जूएबार पर ।
मौजे बहारे लालए खुदरौ ने ऐ नसीम
कुछ आग-सी लगाई है आ कोहसार पर ।

शादाबी—आनंद ; शगुफ्ता—खिले हुए ; अशजार—पेड़-पौधे ; ताक—अंगूर ;
जूएबार—नहर-किनारे ; मौजे बहारे लालए खुदरौ—नैसर्गिक फूलों की रूपछटा ;
नसीम—शीतल पवन ; कोहसार—पर्वत ।

मिर्जा असदुल्ला खाँ ‘ग़ालिब’

[दिल्ली निवासी उर्दू कवि, उन्नीसवीं शती पूर्वार्ध]

फिर इम अंदाज़ से बहार आई, हो गये महोमह तमाशाई
देखो ऐ साकिनाने-खित्तए-खाक, इसको कहते हैं आलम आराई
कि ज़मीं हो गई है सर-ता-सर रूक़शे सतहे चखें मीनाई
सब्ज़े को जब कहीं जगह न मिली, बन गया रूए आव पर काई
सब्ज़ओ गुल के देखने के लिए, चरमे-नरगिस को दी है बीनाई
है हवा में शराब की तासीर, बादानोशी है बाद पैमाई
क्यों न दुनिया को हो खुशी ग़ालिब शाहे दींदार ने शफ़ा पाई ।

महोमह—चाँद-सूरज ; साकिनाने-खित्तए-खाक—भूतल निवासियो ; आलम-आराई—चतुर्दिक सजावट ; सर-ता-सर—आप्लावित ; रूक़शे सतहे चखें मीनाई—आकाश का प्रतिचित्र ; रूए आव—पानी की सतह ; बीनाई—दृष्टि ; बादानोशी है बाद-पैमाई—वायुसेवन ही मद्यपान है ; शाहे दींदार—धर्मनिष्ठ शाहंशाह-बहादुर शाह ‘जफ़र’ जिनके स्वास्थ्य-लाभ पर यह ग़ज़ल लिखी गयी थी ।

सैयद मुहम्मद बेनज़ीर शाह, ‘बेनज़ीर’

[इलाहाबाद, उर्दू कवि, उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध]

बहार आई इक धूम सी मच गई, उरूसे चमन रंग में रच गई
सबा में जो कुछ गुदगुदाहट सी है, लवे-गुंचा पर मुस्कराहट सी है
हवा में ये कैफ़े मये नाब है, चमन का चमन मस्तो शादाब है
गज़ब मीनी-मीनी गुलों की महक, सितम हल्की-हल्की हवा की सनक
जो गाते हैं मुरग़ाने शीरी ज़बाँ
बजाते हैं बर्गे शजर तालियाँ !

उरूसे चमन—उद्यान की नववधू ; सबा—हवा ; लवे-गुंचा—गुच्छों के ओठ ; कैफ़े मये नाब—मादकता का गुण ; शादाब—हरा-भरा, आनंदित ; मुरग़ाने शीरी ज़बाँ—मधुभाषी पक्षी ; बर्गे शजर—तरु-पात ।

‘यह वसंत सबकर ने कहा !’

बालमुकुंद गुप्त

[हरियाना वासी, उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध]

आ आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी
तेरा शुभागमन सुन फूनी केसर क्यारी।

सरसों तुझको देख रही हैं आँख उठाये
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की
फूल फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की।
बौराही सी ताक रही है आम की मौरी
देख रही है तेरी बट बढ़ोरि बहारी।
नीबू नारंगी हैं अपनी महक उठाये
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये।

फुलसुँवनी की टोली उड़-उड़ डाली-डाली
भूम रही है मद में तेरे हो मतवाली।

इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी
आ आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी।

सब किसान मिलके अपने खेतों में जाकर
फूल ताड़ते सरसों के आनंद मनाकर।
सुंदर सुंदर फूल वह उसके चित्त लुभाने
बीच बीच में खेत गेहूँ जौ के मनमाने।
वह बबूल की छाया चित्त को हग्नेवाली
वह पीले पीले फूलों की झटा निराली।
आसपास पालों के बट बृक्षों का भूमर
जिसके नीचे वह गायों भैसों का पोखर।
गपाल बाल सब जिसके नीचे खेल मचाते
बूट चने के लाते होले करके खाने।

कहते हर्षित सभी देख फूली फुलवागी
आ आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी।

वसंतोत्सव

‘यह वसंत सबकर तेवहारू !’

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[बँगला, बीसवीं शती]

एशो एशो वसंत धरातले
आनो कुहुतान प्रेमगान
आनो गंध-मद-भरे अलस समीरण
आनो नवयौवन हिल्लोले नवभाण
प्रफुल्ल नवीन वासना धरातले ।

एशो थरथर-कंपित मर्मर-मुखरित नव-पल्लव-पुनकित
फुल-आकुल मालति-वल्लि-विताने सुख द्याये, मधु वाये
एशो एशो !

एशो अरुण-चरण कमल-वरण तरुण उपार कोले
एशो ज्योत्स्ना-विवश निशीथे कल-कल्लोल-तटिनी-तीरे
सुख-सुप्त सरसी तीरे
एशो एशो !

गीत-वितान

‘यह वसंत सबकर तेवहारू !’

जेरल्ड बुलेट

[अंग्रेजी, बीसवीं शती]

आकस्मिक है वसंत-श्री : यही उसका गुण है ।
चाहे जितनी सतर्कता से हम बाट देखें,
चाहे जितनी भिड़ जाय सूखी बाढ़ में हरियाली की भलक
या कि बादाम का प्रस्फुटन
या भू-भेदी डेफ़ोडिल—
संकेत स्थल पर विलंब से आनेवाली सुंदरी की भाँति
वह सहसा अवतीर्ण हो जाती है हमें चौंकाती हुई—
प्रतीक्षा को इस शालीनता से लय कर देते हुए
कि उसके समय-पालन से पुलक उठते हैं !

सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’

सखि वसंत आया

भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया

किसलय-वसना नव-वय लतिका

मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,

मधुप-वृंद बंदी पिक-स्वर नभ सरसाया ।

लता-मुकुल-हार-गंध भार भर

बही पवन बंद मंद मंदतर

जागी नयनों में वन-यौवन की माया ।

आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,

केशर के केश कली के छूटे

स्वर्ण-शस्य-अंचल पृथ्वी का लहराया ।

गीतिका

सुमित्रानंदन पंत

स्वर्ण मंजरित आभ्र कानन
कोकिला करती कल कूजन !
सूँघ चख चूम फूल आनन,
भूम मधुलिह करते गुंजन !

आज भव-वारिधि उद्वेलित
नभो नीलिमा बनी विस्तृत
डोलता मारुत रोमांचित
साँस पी फूलों की सुरभित !

रजत किंकिणियों सी कलकल
लहरियाँ थिरक रहीं चंचल,
कंप रहीं वल्लरियाँ कोमल
खोलतीं कलियाँ वक्ष नवल !

न रोके रुकते चपल नयन
मीन तिरते उड़ते खंजन
अधर से मिलते मधुर अधर
मुग्ध कलि अलि करते चुंबन !

बाँह यदि भरती आर्लिंगन
लताओं से लिपटे तरुण
प्रबल रे फूलों का बंधन
अमिट प्राणों का आकर्षण !

स्वर्ण-किरण

‘यह वसंत सचकर नेवहारू !’

गिरिजाकुमार माथुर

आज हैं केसर रंग रंगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी
केसर के वसनों में छिपा तन,
मोने की ब्राह्म-सा,
बोलती आँखों में पहले वसंत के फूल का रंग है ।
गोरे कपोलों पे होने से आ जाती
पहले ही पहले के रंगीन चुंबन की-सी ललाई ।
आज है केसर रंग रंगे
गृह द्वार, नगर, वन,
जिनके विभिन्न रंगों में है रंग गयी
पूनों की चंदन चाँदनी ।
जीवन में फिर लौटी मिठास है,
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहों में,
ओठों में, आँखों में,
फूलों में डूबे ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी बाँहें !

—नाश और निर्माण

भोतीचंद्र

प्राचीन भारतीय साहित्य में जन का स्थान

आज हमारा देश स्वतंत्र है, हम स्वतंत्रता की हवा में साँस ले सकते हैं और बातें कर सकते हैं, लेकिन इस स्वतंत्रता को लाया कौन और इसकी रक्षा के लिए हँसते-हँसते जान कौन दे सकता है? उत्तर है, इस देश की अपार जनराशि। आज वह जनराशि अँग-झाई ले रही है, अब वह अपने स्वत्वों, भावों और अधिकारों को धीरे-धीरे समझ रही है। देश के कलियुग पर परदा पड़ गया है, नये युग का नाम होगा कृतयुग और वैदिक ऋषि के शब्दों में उसका लक्षण होगा 'कृतं संपद्यते चरन्' अर्थात् उन्नति के पथ पर कर्तव्य-पालन करते हुए चलते रहना, इसी का नाम है जीवन, सोनेवाला तो कलियुगी है। हमारे जन का कलियुग, पुराणों की कपोल कल्पना भी बात तो जाने दीजिये, गुप्तकाल का अंत होने पर आरंभ हुआ। रुढ़िगत भावनाओं तथा सामाजिक और धार्मिक बंधनों में जकड़ा जाकर हमारा जनसमुदाय सोने लगा। हमारी दृष्टि अपने गत वैभव और विद्वत्ता पर न जाकर केवल एक ध्येय परलोक-प्राप्ति पर डटी रही। चरित्र की कमजोरी और डर से जब हमने सामुद्रिक व्यापार छोड़ा तो समुद्रयात्रा-निषेध में हमने भट्ट स्मृतियों का प्रमाण रख दिया। धर्म के विशाल तन्त्रों को छोड़कर हम उन पौराणिक दान-परंपराओं पर चले गये जो कहती हैं कि तिल का हाथी दान करने से स्वर्ग में पूरा जीता-जागता हाथी मिलता है। भारतीयों के इस अंधविश्वास की ओर अलबेरुनी ने एक जगह ध्यान दिलाया है। भारतीयों की ज्ञान-परंपरा की तारीफ करते हुए वह कहता है कि मेरी समझ में नहीं आता कि छुआछूत में वे इतना अधिक विश्वास रखकर उसे धर्म का अंग क्यों मान बैठे हैं? उसने एक बंदर में हिंदू यात्रियों को अलग-अलग भोजन बनाते हुए देखकर यह कहा। मध्यकालीन कबीर जैसे संतों ने इस सोती जनता को उठाने का प्रयास किया, लेकिन सफल नहीं हुए। अंत में थककर सूर और तुलसी ने उन्हें राम और कृष्ण की ओर खींचा, क्योंकि ईश्वर के सिवाय इस सोती हुई जनराशि का सहारा और कौन था! भक्ति से और जो कुछ भी हुआ हो, पर इतना तो अवश्य हुआ कि उसके नीरस जीवन में एक रस आया और वह उस मध्यकालीन धार्मिक और सांस्कृतिक शून्यता से जो उन्हें सीधे विनाश की ओर लिये जा रही थी, बच गयी। अब हमें देखना है कि हमारे कृतयुग अर्थात् ई० पू० १५०० से ई० सं० ५०० तक में हमारी जनता का क्या हाल था।

ई० पू० १५०० में या उसके आगे-पीछे, सिंधु सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद भारतीय इतिहास के रंगमंच पर से एक नया परदा उठता है और मध्य एशिया से आकर आर्य हमें पंजाब में बसे दिखलायी देते हैं। अभी तक आर्य-सभ्यता के अवशेष हमें जमीन के अंदर से नहीं मिले हैं, लेकिन उनके जीवन की झलक हमें वेदों से मिलती है। ऋग्वेद में जो आर्य सभ्यता का पहला ग्रंथ है, हम एक विचित्र तेज और संचरण-शीलता का अनुभव करते हैं। अपनी सभ्यता और दर्शन के प्रसार के लिए आर्यों को भारत की प्राचीन असुर अथवा दाम-सभ्यता से लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। पर्वत, नदियों और वनों में आच्छादित इस देश में आगे बढ़कर भू-प्रतिष्ठा करने के लिए उन्हें संचरण-शीलता और एकता की बड़ी आवश्यकता थी। वैदिक साहित्य ऐसे मंत्रों से भरा पड़ा है जिनमें एकता और संचरण-शीलता का उपदेश है। रोहित को उपदेश देते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में इंद्र कहता है, 'रोहित, सुनते हैं, आति में ही श्री-निहित है। बैठे हुए को पाप धर दवाता है।' निरंतर संचरणशील का इंद्र मित्र है। इसलिए 'चरैवेति चरैवेति' चलते रहो, चलते रहो। संचरण-शील के जंघे खुल जाते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल-प्राप्ति करती है, उसके पाप थककर सोये रहते हैं। बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होनेवाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहनेवाले का सौभाग्य पड़ा रहता है और उठकर चलनेवाले का सौभाग्य चल पड़ता है। मोने-वाले का नाम कलि है, अँगड़ाई लेनेवाले का द्वापर, उठकर खड़े होनेवाले का नाम त्रेता है और चलनेवाला कृत्युगी होता है। चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, वही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्य का परिश्रम देखो, वह चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। यह उपदेश आदि आर्य-सभ्यता में जन के लिए एक महामंत्र था। अगर् उम युग का जन इस मूलमंत्र को ग्रहण नहीं करता तो आर्य-सभ्यता का विकास असंभव था। लेकिन केवल एकाकी संचरण-शीलता से जन की उन्नति असंभव थी, उसके लिए समष्टि-रूप से प्रयत्न करना आवश्यक था। वैदिक आर्यों में कर्म के अनुसार ही तीन वर्ण यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य थे; लेकिन उनका आपस में दृढ़ सामाजिक संबंध था। शूद्र तो बाद में हुए—विजेता आर्यों ने विजित जातियों को एक अलग वर्ण देकर अपने सामाजिक संगठन का एक अंग बनाया। इसलिए जब आर्य जाति एक थी तब उसकी समस्याएँ भी एक थीं और उन समस्याओं को हल करने के लिए जन का ऐक्य आवश्यक था। ऋग्वेद (१० वे० १०, १६१, २-५) के संगच्छुध्वं मंत्र में आर्यजन के मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक एकता की ओर बड़ी मार्मिकता के साथ ध्यान दिलाया है। 'साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, साथ-साथ अपने मन को मिलाओ, क्योंकि देवता भी एक होकर ही अपना भाग ग्रहण करते हैं। हमारा मंत्र समान है, हमारी समिति समान है और हमारे मन और चित्त समान हैं। हम

समान रूप से मंत्र पढ़ते हैं, समान रूप से आहुति देते हैं, हमारे संकल्प और हृदय समान हैं, हमारे मन समान हैं, जिससे सबका ऐक्य होता है।' हमारे प्राचीन साहित्य में शायद ही कोई ऐसा स्थल हो जहाँ राजनैतिक, बौद्धिक और धार्मिक समानता पर इतना जोर दिया गया हो।

हमारे कुछ विद्वान्, विशेष करके दार्शनिक, वेदों की अगौरव्यता का ध्यान रखते हुए उसके तत्वों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं लेकिन समाज-शास्त्री तो वेदों में प्राचीन भारतीय समाज और विशेषकर जन के जीवन की झलक पाते हैं। हमारी पौराणिक कल्पनाओं के आधार-भूत हमारे पूर्वज कोई देवता नहीं थे। वे सोने-चाँदी के महलों में नहीं रहते थे और न शारीरिक धर्मों से अछूते ही थे। वे तो जीते-जागते मनुष्य थे। कृषि और गोरक्षा उनका व्यापार था, वे गाँवों में रहते थे, आपस में लड़ते-भिड़ते भी थे, आसव और मांस से उन्हें परहेज न था। खेलते-कूदते और गाते बजाते भी थे। जूए का भी चस्का था और घुड़दौड़ के भी वे शौकीन थे। स्त्रियों का वे आदर करते थे और उनका समाज में ऊँचा स्थान था। कला उनकी व्यावहारिक थी। वे कपड़े बुनते थे, मट्टी के बरतन बनाते थे और गहनों का भी उन्हें शौक था। उनके देवता पत्थर के न होकर निराकार थे। प्रकृति के विभिन्न रूपों में वे अपने देवताओं का दर्शन करते थे, और उन देवों की साकार कल्पना में भी वे अपना रूप देखते थे। वैदिक साहित्य का जहाँ तक संबंध है उससे तो यही पता चलता है कि जन-जीवन सुखी और सरल था और खाने की तो कमी बिलकुल नहीं थी। राजा परीक्षित् के राज्य में प्रजा के योग-क्षेम का एक आदर्श चित्र वैदिक साहित्य (अथर्व० २०।१२७।७-१०) में पाया जाता है। 'राज्य के आसन पर विराजते ही परीक्षित् ने, सबमें गुणवान् अभूत-पूर्व योग-क्षेम किया।' यह वाक्य कुरु देश का एक निवासी अपना धर बसाते समय अपनी पत्नी से कहता है। 'दही, दूधिया सत्तू, और आसव इनमें से आपके लिए क्या लाऊँ?'—यह परीक्षित् राजा के राज्य में पत्नी अपने पति से पूछती है। इस कथन से यह भी पता चलता है कि वैदिक युग में राज्य-विस्तार ही चक्रवर्तियों के पराक्रम का मापदंड नहीं था, उनके पराक्रम का असली मापदंड तो था जन का कल्याण। जन के इस कल्याणमय रूप की कल्पना यजुर्वेद (२२।२२) के आब्रह्मन् सूक्त से भी मिलती है। सूक्तकार कहता है—'हे ब्रह्मन्, इस देश के ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्व हों, इस राष्ट्र में राजन्य शूर पराक्रमी और महारथी हों। दूध देनेवाली गायें, भार वहन करनेवाले बैल, तेज घोड़े, वीरप्रसू महिलागण और विजयकामी रथें हों। यजमान को वीर संतानें पैदा हों। समय-समय पर मेघ वर्षा करें तथा फलवती औषधियाँ उपजें और इस तरह हमारा योग-क्षेम हो।' इस आशीर्वचन में हम न तो राजाओं की प्रशंसा पाते हैं, न दाताओं के ऐश्वर्य की सूची। इसमें तो एक सच्चे ब्राह्मण की जन-मंगल की कामना है।

जन के साथ वैदिक युग में पृथिवी की एकता यहाँ तक थी कि एक के बिना दूसरे का कल्पना नहीं हो सकती थी। पृथिवी सूक्त में जन सूक्तकार के मुख से बोल उठता है,—‘मैंने अजीत अह्न और अक्षत रूप में सबसे पूर्व इस भूमि पर पैर जमाया था (अजीतोऽह्नो अक्षतोऽध्याथा पृथिवीमहम् ११)। इसमें एक गर्वोक्ति है और पृथिवी के साथ अपने-पन के भावना की अभिव्यक्ति है। यह अपनेपन की भावना इतनी अधिक बढ़ती है कि जन कह उठता है—‘माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः’ अर्थात् ‘यह भूमि मेरी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ।’ पृथिवी उसकी माता केवल इसलिए ही नहीं है कि उससे उसके शरीर का भरण-पोषण होता है। उस युग के जन की तो यह कामना थी कि ‘हे पृथिवी, तुम्हारे शरीर से निकलने वाली जो शक्ति की धाराएँ हैं उनके साथ हमें जोड़ो’ (यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नम्यं याता ऊर्जस्तन्यः संभूयुः, १२)। इस कथन का तात्पर्य यह है कि आधिभौतिक या आधिदैविक कारणों से पृथिवी पर ब्रम्भेवाले जनहृदय और शरीर में जो प्रेम्हृदय आते हैं वे सीमित न होकर पूरे जन में फैलें।

इस पृथ्वी पर वैदिक मानव ने सब दिशाओं में अपना कल्याण देखा [३१-३२] और उत्कर्ष की तो उसने कल्पना तक न की। उसके लिए पृथिवी एक थी। प्रांतीयता की भावना का अभी उदय नहीं हुआ था। जन अपनी पृथिवी पर दृढ़ भाव से खड़ा होता चाहता था जिसमें कहीं छेदों न लगें (मा निषमं भुवनेशिश्रियाणः) और उसकी कामना थी कि उसके दोनों पैर पृथिवी पर जमे रहें और कभी भी न लड़खड़ाएँ (पद्भ्यां दक्षिणगव्याभ्यां मा व्यविष्महि भूभ्यां)।

पृथिवीसूक्त के रचयिता को यह बात मालूम थी कि पृथिवी पर फैलते हुए जन-समूह में ही जनवाद की और इसीलिए उसने पृथिवी को जन के धारण करनेवाला, विस्तृत, अमंडल, और सर्व कामना पूरा करने वाला है (६१)।

पृथिवी पर बसे हुए विभिन्न जनो की रक्षा सूक्तकार स्वीकार करता है और यह भी जानता है कि विभिन्न प्रदेशों के अनुसार उनकी अनेक भाषाएँ हैं और अलग-अलग उनके धर्म हैं (जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं, नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्, ७५)। लेकिन इस विभिन्नता में भी कवि को एक एकता देख पड़ती है और उस एकता का आधार है पृथिवी-पुत्र की कल्पना। हम चाहे जो भाषा बोलें या चाहे जो धर्म पालन करें, आखिर हम हैं तो इसी भूमि की संतान, यह सिद्धांत हमारी राष्ट्रीय सभा ने पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। हम तो अपनी विभिन्नता में एक चित्रमय सौंदर्य पाते हैं जो हमारे समाज को रेंगीता बनाता है। लेकिन यह विभिन्नता हमें तभी स्वीकार्य होगी जब हम सब अपने को पृथिवी पुत्र मानने लगें। पृथिवीसूक्त ने इस बात की विवेचना की है कि वह कौन-सी बात है जो अनेक भोली बोलनेवालों को एकता के एक धागे में पिरो देती है। सूक्तकार कहता है कि वह पृथिवी की गंध है जिसे हम सभी

पुरुषों के रूप में और भावनाओं में पाते हैं। वह प्रार्थना करता है कि मातृभूमि की इस स्वाभाविक गंध के प्रति प्रेम और श्रद्धा के कारण ईर्ष्या या प्रमादवश हमसे कोई दूसरा राष्ट्र वैर न करने लगे (ते मा सुगमि कृणु मा नो द्विज्जित कदाचन, २४. २५)। देश-प्रेम की कितनी स्वाभाविक भावना जन के हृदय में थी! उसका तो साफ-साफ कहना है कि भाई मेरे, तुम मुझे इसलिए क्यों सनाना चाहते हो कि मैं अपने देश को प्यार करता हूँ और उसकी स्वाभाविक गंध से आप्रगुणित होकर अपने को धन्य मानता हूँ।

जनैक्य की भावना को पृथिवीसूक्त के रचयिता ने अग्नि माना है जो सर्वत्र व्याप्त है। 'पुरुषों और स्त्रियों में, अश्वों और गोधन में, जल और औपधियों में, भूमि और पापाणों में, बलोक और अंतरिक्ष में एक ही अग्नि बसी हुई है। मर्त्य लोग अपनी भावना से उसी अग्नि को प्रज्वलित करके अमर्त्य बनते हैं।' सूक्तकार कहता है कि यह समस्त भूमि उस अग्नि का पत्र ओढ़े हुए है, और उसका घुटना काला है (२१)। कहने का भाव यह कि पृथिवी देवने में काली है लेकिन उसका आवरण उसके पुरों के हृदयों में देदीव्यमान जैविक और देश प्रेम ही अग्नि है। कवि अपने देश के जन को भली भाँति जानता है, उसे सच्चे धर्म और दार्शनिक विचारों की आशा नहीं है। वह जानता है कि मनुष्य ऐहिक सुखों की ओर भी विचारा रहता है। वह जन में इन दोनों भावनाओं का सामंजस्य देखता है। 'जो देशों की भावना रखते हैं, उनके लिए यहाँ सज्जये हुए यज्ञ हैं; जो मानुषी भाव से प्रेरित हैं, उन मर्त्यों के लिए केवल अन्न और पान के भोग हैं (२२)।' जन-जीवन का अपूर्व संतुलन ही मनुष्य-जीवन की वैदिक परिभाषा है।

पृथिवीसूक्त के रचयिता को भूमि और जन का साभिध्य और उसके द्वारा राष्ट्र की रचना का पूरा ज्ञान था। 'या नो भूमिस्त्रिपिं बलं राष्ट्रे दधानूत्तमे (८)', इस सूक्त में भूमि, भूमि पर बसनेवाले जन, जनों की विविधता, उनकी एकता और उन सबको मिलाकर एक महान् राष्ट्र की कल्पना, इन पाँचों का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे नेताओं की भी भारत राष्ट्र की यही कल्पना है। भूमि जिसने हमें पाला और जिस पर हमारी सभ्यता पनपी, इस कल्पना को वनुरूप देने में आधारस्तंभ है, वही एक सत्य है जिसके आधार पर राष्ट्र तड़ा हो सकता है। लेकिन इस पृथिवी के कुछ माने ही न रह जाते अगर उसमें जन का निवास न होता और उस जन का अपनी भूमि से अविच्छेद्य संबंध न होता। पर इस जन में भी विविधता है, यहाँ बहुत-सी बोलियाँ बोली जाती हैं। लोगों के धार्मिक विश्वास भी भिन्न हैं, पर जहाँ तक भूमि का सवाल है, सब उसके पुत्र हैं और वही उनकी विभिन्नता में एकता की अटूट कड़ी है और इसी के बल पर राष्ट्र का निर्माण होता है। गुलामी की जंजीरों में बहुत दिनों तक जकड़े रहकर हम अपने पूर्वजों का यह मंत्र भूल गये हैं, इसे हमें राष्ट्र-कल्याण के लिए फिर से जगाना होगा।

राष्ट्रीय ऐक्य के लिए पृथिवीसूक्त में 'ममग्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋषि की दृष्टि में देश में भाषा और संस्कृति की भिन्नताओं का कारण तो भौगोलिक परिस्थिति है और जन की ये भिन्नताएँ कभी मिट जायेंगी, यह भी समझना भूल है, क्योंकि भिन्नताओं की जड़ जमीन में गहराई तक चली गयी है। लेकिन इन विभिन्नताओं में एकता की प्रतीक हमारी भूमि है जिस पर समान रूप से सबका अधिकार है। ऋषि के शब्दों में—'पृथिवी से जो प्राणी उत्पन्न हैं, उन्हें भूमि पर विचरने का अधिकार है। जो शत्रु और पाप हैं उन्हें भी जनायन मार्गों के उपयोग का अधिकार है, जितने मर्त्य 'पंचमानव' यहाँ हैं वे तब तक अमर रहेंगे, जब तक सूर्य आकाश में है, क्योंकि सूर्य ही तो प्रातःकाल अपनी रशियों से सबको अमर बना रहा है। (१५)।' इस सूक्त में भूमि पर जन का समान रूप से अधिकार माना गया है। अगर आज भी हम यह बात मान लें तो सब राजनैतिक दंष्ट्रा ही खतम हो जाता है।

यह एक सत्य है कि अनेक विविधताओं के रहते हुए भी जन को इस भूमि पर ही रहना है। अगर इस सत्य को हम लोग मान लें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि हमें इस पृथिवी पर समग्र भाव से एकता के सूत्र में बँधकर रहना आवश्यक है। इसीलिए वाणी की मधुरता के लिए कवि प्रार्थी है—'ता नः प्रजा सं दुहतां समग्रा, वाचो मधु पृथिवी वेहि मह्यम् (१६)।' हममें एकता तभी आ सकती है जब हम अपनी वाणी पर संयम रखें, मधुर वचन बोलें, और दूसरों की भावनाओं पर आघात न करें। इस क्षमा-शीलता और मधुरता का आदर्श तो स्वयं पृथिवी जिसके हम सब पुत्र हैं, हमारे सामने रखती है। सूक्तकार कहता है—'पृथिवी स्वयं क्षमा का रूप है (क्षमां भूमिम्, २६), वह समान रूप से जानियों और मूलों का पोषण करती है (२६), भद्र और पापी दोनों की मृत्यु उसकी गोद में होती है (४८)। तथा प्रत्येक प्राणी दाहिनी अथवा बायीं करवट से उस पर लेटता है और वह सभी का भिक्षुता बनी है (३४)।'।

वैदिक दृष्टि से जन-जीवन की परमावधि तो सौ साल है, पर वह समष्टि रूप से कभी मरता नहीं, क्योंकि जन के जीवन और संस्कृति की परंपरा तो सदियों या सहस्रों वर्ष तक कायम रहती है। जन-जीवन की अजस्र धार में समयांतर में राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन होते रहते हैं, पर वह स्रोत अटूट रहता है। जन-जीवन की वैदिक साहित्य में यही मंगलमयी आकांक्षा है कि हम रोगहृत् से रहित होकर (अनमीवा अयक्ष्मा) दीर्घ काल तक जागते हुए तुम्हारे लिए भेंट चढ़ाते रहें [६२]। जन-जीवन के भूत और भविष्य दोनों की मालिक पृथिवी है (सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, १) और जिस तरह पृथिवी अमर है उसी तरह से जन-जीवन भी।

जन के साथ पृथिवी का संबंध कोई नया नहीं है। इस संबंध में सूक्तकार अपने पूर्वजों के विक्रम को (यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे, ५) याद करता है, क्योंकि कालांतर

में जन के विक्रम की कथा ही तो इतिहास बन जाती है। हमारे पूर्व जन ने ही तो शत्रुओं को पराजित करके पृथिवी को शत्रुरहित बनाया और अपनी विजय दुन्दुभी बजायी (यस्यां वदति दुन्दुभिः, ४१)। लेकिन पृथिवीसूक्त का वह जन केवल लड़ने-भिड़ने में ही व्यस्त नहीं रहता था, उसे जीवन प्यारा था और वह उत्सवों पर नाच-गाकर अपने जीवन के प्रति उल्लास को व्यक्त कर लेता था (यस्यां नृत्यन्ति गायन्ति व्यैलवाः, ४६) अनेक कौतुक, क्रीड़ाएँ और आमोद-प्रमोद जन संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जिस और आर्य सभ्यता का विशेष ध्यान था।

पृथिवीसूक्त में जन को विश्वकर्मा (१३) कहा गया है, क्योंकि वे दुनिया में सब काम संभालते हैं। ऊर्ध्व के प्रयत्नों से हमारी पृथिवी अन्नदान करती है और गोधन दूध और धी से हमारा शरीर पुष्ट करता है, इतना ही नहीं हमारे घर और द्वार, हमारी सड़कें और हमारे विशाल नगर भी तो जन-परिश्रम के फल हैं। उन्होंने अपनी बुद्धि से अनेक नगरों का निर्माण जो अपनी सुंदर रचना से देवनिर्मित से जान पड़ने हैं—‘यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (४३)।’ अपनी पृथिवी की जिसे जन ने हजारों पीढ़ियों में अपने अन्नवस्तु परिश्रम से सजाया है और जिसके लिए वे लड़े मरे हैं, भूरि भूरि प्रशंसा ग्रामों के जनपदीय जीवन में जहाँ अनेक मनुष्य एकत्र होते हैं और संग्रामों या मेलों में वे करते रहते हैं। कवि कहता है—‘ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूभ्यां ये संग्रामास्य मितवस्तेषु वदेम ते (५६)।’—पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएँ और सभितियाँ हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि, हम तुम्हारे लिए सुंदर भाषण करें। कवि चाहता है कि जहाँ भी हम हों, हमारी उदार वाणी अपनी मातृभूमि को कभी न भूले, सभा-समितियों का तो तात्पर्य ही है जन द्वारा भूमि की सेवा, लेकिन यह प्रशंसा कहीं तक सीमित न होकर ग्रामों और अरण्यों में भी बढ़े। अथर्ववेद की मातृभूमि-वंदना तीन हजार वर्षों से भी अधिक पुरानी हो गयी है। इस ध्वनि में बहुत-सी सभ्यताएँ और राज्य इस देश में उठे और विलीन हो गये। हम ऊँचे उठे और नीचे गिरे। हमारी स्वतंत्रता नष्ट हो गयी। फिर भी हम भूमि के प्रति अपना प्रेम नहीं भूले। आज दिन भी ग्रामीण गीतों में जनता अपनी माता भूमि की याद कर लेती है और उसकी देन से अपने को कभी उन्मृग नहीं मानती।

भूमि, जन और जन-संस्कृति से ही राष्ट्र का आकार खड़ा होता है। पृथिवीसूक्त के अनुसार राष्ट्र निकृष्ट, मध्यम और उत्तम श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। निकृष्ट श्रेणी के राष्ट्र में पृथिवी की भौतिक संपत्ति का पूर्ण विकास देखा जाता है, मध्यम श्रेणी के राष्ट्र का लक्षण जन-वृद्धि और हलचल है और उत्तम कोटि के राष्ट्र की विशेषता का लक्षण जन की उच्च संस्कृति है। इस उत्तम कोटि के राष्ट्र में जन मानसिक तेज और शारीरिक बल का आकांक्षी है—ना नो भूमिस्त्रिविषं बलं राष्ट्रे दधानू-

समे, (८ ।) अगर गौर करने देना जाय तो एक सर्वांगीण राष्ट्र इन तीनों श्रेणियों के एकीकरण से ही बनता है । भौतिक संपत्तियों, जन की विशालता और उन्नति की माँग करती हुई जनता में एक विशेष हलचल, रक्षा और कार्य-कुशलता के लिए शारीरिक बल तथा संस्कृति के प्रोत्साहन के लिए मानसिक तेज, इन्हीं के बल से प्राचीन काल में अनेक राष्ट्र आगे बढ़े और आज भी बढ़ रहे हैं । क्या हमारी जनता पुनः अपने पूर्वजों के इस मूल मंत्र को ग्रहण करेगी ?

पृथिवीयुक्त के रचयिता ने राष्ट्र के महत्व को समझाते हुए, यह भी कहा है कि एक राष्ट्र अकेले रहकर उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता । उन्नति के लिए राष्ट्रों का पारस्परिक संबंध आवश्यक है । उस अंतरराष्ट्रीय व्यवहार (५८) को ठीक तौर से कार्य में परिणत करने के लिए चार बातों पर ध्यान दिलाया गया है—

(१) 'मैं जो कहता हूँ उसमें शक की मिटाम है ।' अर्थात् गठिष्ठता और मीठे वचन हमारे अंतरराष्ट्रीय व्यवहार के आदर्श हैं ।

(२) 'जिस आँख से मैं देखता हूँ उसे सब मानने हैं ।' अर्थात् राजनीति में हमारा सबसे समान्य है, इसलिए भेद-भाव अपना सचुता का प्रश्न ही नहीं उठता ।

(३) 'परन्तु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति है ।' अर्थात् मेरा व्यवहार ऐसा ही है जैसा तेजस्वियों और मशहूरों का होना चाहिए । कहने का मतलब यह है कि हमारी समष्टि से कोई बट न समझ ले कि हम कमजोर हैं, हमारी समष्टि तो हमारे बल का प्रतीक है ।

(४) 'जो मेरे प्रति हिंसा या आक्रमण (अवदोषन) करता है उसका मैं हनन करता हूँ ।' अर्थात् मैं जबरदस्ती शिरी से नहीं लड़ता, लेकिन प्रमादवश अगर कोई मुझे मारे और मेरे देश पर आक्रमण कर धैठे तो मैं उसे अवश्य मारूँगा । इस सूत्र की व्याख्या स्मृतियों ने—आतवाणी वधार्थः इत्यादि वाक्यों से बराबर की है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि भूमि के साथ बड़ संबंध की वीनक जन-संस्कृति है । इस पृथिवी पर जन क्षत्रविजय अपना ब्रह्मविजय के द्वारा ही प्रतिष्ठा पाता है । क्षत्र-विजय भी एक महान् पराजय है और उगी के कारण इस देश में बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई, पर जन की सच्ची विजय उसकी संस्कृति या ज्ञान की विजय है । जन के ब्रह्मज्ञान से ही पृथिवी संवर्धित होती है (ब्रह्मणा वावृधानाम्, २६) । क्षत्रविजय तो क्षणिक है और उसकी चमक-दमक केवल हतिहास के पन्नों तक ही रह जाती है, लेकिन ब्रह्मविजय तो सब काल की संपत्ति हो जाती है और उसका प्रभाव भौगोलिक सीमाओं को पार करता हुआ इस लोक के कोने-कोने में पहुँच जाता है । इस ब्रह्मविजय के प्रतीक भारतीय-दर्शन, साहित्य और कलाएँ हैं जो संसार के दूर देशों में मान्य हुई । बृहत्तर

प्राचीन भारतीय साहित्य में जन का स्थान

भारत का इतिहास इस ब्रह्मविजय का साक्षी है। वह सफ-साफ कहता है कि भास्तीयों ने उन देशों को अपने पराक्रम से नहीं, अपनी संस्कृति से जीता।

प्रश्न यह उठता है कि इस ब्रह्मविजय का आधार क्या है? पृथिवीसूक्त के पहले ही सूक्त में इसकी मीमांसा की गयी है :

सत्यं बृहदतमुग्रं दीक्षा, तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, उरुलोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

‘सत्य बृहत् और उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ—ये पृथिवी को धारण करते हैं। जो पृथिवी हमारे भूत और भविष्य की पत्नी है वह हमारे लिए विस्तृत लोक प्रदान करनेवाली हो।’

इस सूक्त से तीन बातों का पता चलता है (१) सत्य, ऋत इत्यादि शाश्वत तत्त्व जिस तरह वैदिक युग में आध्यात्मिक जीवन के आधार थे उसी तरह राष्ट्रीय जीवन के भी आधार थे। (२) भूत और भविष्य में जन अथवा राष्ट्र और पृथिवी का संबंध संस्कृति के आधार पर ही स्थिर रहता है। (३) ब्रह्मविजय से भौगोलिक सीमा का अंत हो जाता है। ब्रह्मविजय की प्रतीक सांस्कृतिक धाराएँ समस्त पृथिवी पर फैल जाती हैं।

जन जीवन के आधार-स्तंभ कर्म-सत्य और मानस सत्य (ऋत) हैं। इन्हीं से हमारे जीवन में गहराई आती है और राष्ट्र पुष्ट होता है। इन दोनों सत्तों के पाने के लिए कष्टबद्ध व्रत को ही दीक्षा कहा गया है और दीक्षा के अन्तर्गत साधना को ही तप कहते हैं और इसी तप के फल को विश्वहित के लिए आगे लाने को यज्ञ कहते हैं। राष्ट्र की उन्नति ऐसे ही दीक्षित लोगों पर अवलंबित रहती है और इन्हीं केशवों से सभ्यता आगे बढ़ती है, संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान और कलाएँ इन्हीं दीक्षितों की देन हैं।

वैदिक सरस्वती ही हमारे ब्रह्मविजय की प्रतीक है। हमारी अमर वाणी ही ने हमारी पृथिवी को अग्रणी बनाया और इसीलिए उसकी एक संज्ञा अग्रेवरी (५७) हुई। जो स्वयं सबसे आगे है वही अपने पुत्रों को भी सबसे ऊँचा पद दे सकती है (पूर्वपये दधातु) और तब अपना मस्तक ऊपर उठाकर जन कद सकता है—

अहमस्मि महमान उत्तरो नाम भूम्याम्, अभीषाऽस्मि विशायाऽयामाशां विषा साही। ५४।

‘मैं विजयशील हूँ, भूमि के ऊपर सबसे विशिष्ट हूँ, मैं विश्वविजयी हूँ, और दिशा विदिशाओं में पूर्णतः विजयी हूँ।’

(२)

संहितायुग की स्वतंत्र विचारधारा, तथा जन और पृथिवी का अटूट संबंध ब्राह्मण-युग में वैदिक कर्मकांड के जाल में फँसकर सूख-सी चली। हमारे मनीषियों का ध्यान वैदिक यज्ञों की धार्मिक विचारधाराओं को छोड़कर वैदिक कर्मकांड की तरफ लग गया।

मोतीचंद्र

इस युग में क्षत्रविजय का बोलबाला था और राजसूय यज्ञ करके ही राजा अपने को सार्वभौम सम्राट् उद्घोषित कर सकता था। यह क्षत्रविजय केवल पराक्रम का ही प्रतीक नहीं था, इसके द्वारा क्षत्रियों का राज्य करने और प्रजा से कर वसूलने का अधिकार मान लिया गया था। शतपथ ब्राह्मण (१, ३, २, १५) में कहा गया है कि दस पूर्णमासाष्ट यज्ञ करके क्षत्रिय को यह कहने का पूर्ण अधिकार मिल जाता था कि 'हे वैश्य जो कुछ तुमने इकट्ठा किया है उसे लाओ।' और यज्ञ के प्रभाव से वैश्य को दवाकर वह अपनी इच्छित वस्तु ले लेता था। इस युग में क्षत्रिय को यह भी अधिकार था कि धावा बोलकर वह अपने किसी संबंधी की गायें हड़प ले (शतपथ ५, ४, ३, १२) राजसूय यज्ञ में भी इस प्राचीन प्रथा की नकल की जाती थी और इसका कारण यह दिया गया है कि राजसूय-रूप वरुण अभिमंत्रित जल से मिंचित होते-होते कमजोर पड़ गये और पुनः वे अपना तेज पशुओं से प्राप्त कर सके। राजसूय यज्ञ की क्रियाओं में इस धावे की नकल नीचे लिखे तरीके से की जाती थी। अध्वर्यु किसी गिश्तेदार की गौ गायें आह्वनीय के उत्तर में रख देता था। बाद में रथ अपनी पीठिका से नीचे उतार लिया जाता था। उसमें चार घोड़े जोत दिये जाते थे और मंत्र-पाठ करता हुआ राजा उस पर चढ़ जाता था। दाहिनी जोड़ी के घोड़े को थपथपाता हुआ वह कहता था, मरुत् की प्रेरणा से उन्हें जीतो। ब्राह्मणकार कहता है कि वह ऐसा इसलिए कहता है कि मरुत् ही उसके जातिभाई हैं और उन्हीं की मदद से वह जो चाहता है जीत लेता है। इसके बाद वह अपना रथ गायों के बीच में खड़ा कर देता है और उनमें से एक को अपने धनुष से छूता हुआ करता है—'मैं इन्हें जीता हूँ, मैं इन्हें ग्रहण करता हूँ।' इस जबरदस्ती का कारण यह बताया गया है कि मनुष्य का तेज और भी सब कुछ, भाई-बंदों में स्थित हो जाता है और इस क्रिया का मतलब पुनः उस तेज को वापस लाना है। कृष्ण-यजुर्वेद के अनुसार इस अवसर पर नकली लड़ाई भी होती थी। यज्ञ-भूमि के उत्तर या पूर्व में एक धनुर्धारी राजन्य खड़ा कर दिया जाता था और राजा उसकी ओर धावा छोड़ने थे। इन सब प्राचीन क्रियाओं से यह मिद्व होता है कि ब्राह्मणयुग में क्षत्रियों को अधिकार था कि विजययात्रा द्वारा अपना कोश बढ़ावें और अपनी प्रजा से कर वसूल करें।

ब्राह्मणयुग में राजसत्ता चलवती अवश्य थी, पर क्षत्रविजय का उद्देश्य था समभाव से विश्व में विभूतियों का विवरण। शतपथ (२, ४, ३, ६) में कहा गया है कि इंद्र और अग्नि क्षत्र हैं और दूसरे देवगण विश्व; और जब-जब क्षत्रविजय करता है तब-तब विश्व को उसका अंश मिलता है। अर्थात् अग्नि और इंद्र को दी हुई बलि जिस प्रकार अन्य देवों को मिलती है उसी प्रकार क्षत्रविजय का फायदा अन्य आर्यवर्णों को भी मिलता है। एक दूसरी जगह भी क्षत्र और विश्व के संबंध को अच्छी तरह समझाया

प्राचीन भारतीय साहित्य में जन का स्थान

गया है। शतपथ के एक मंत्र में (६, १, २, २५) कहा गया है कि क्षत्र तो ईंटों के समान है और विश ईंटों के अंतरे भरनेवाले (लोकम्पृणा); क्षत्र भोजक है और विश भोज्य। इसलिए भोजक के लिए जिस राज्य में प्रभूत खाद्य सामग्रियाँ मिलती हैं वही राज्य उन्नतिशील होता है। इस मंत्र से भी यही ध्वनि निकलती है कि क्षत्रविजय का उद्देश्य था विश की संपत्ति पर जीना।

लेकिन ब्राह्मणयुग में क्षत्रविजय के लिए जाति में एकता होना बहुत आवश्यक था। शतपथ में इस एके के संबंध में एक सुंदर दृष्टांत दिया गया है। (श० ब्रा० ३, ४, २, १-२) जिसके अनुसार एक समय लड़ाई लड़कर देवगण चार दलों में बंट गये और एक दल दूसरे दल की बड़ाई मानने को तयार न था। इस लड़ाई का लाभ उठाकर असुर और राक्षस उनमें घुस गये। अपनी इस दुर्दशा को ध्यान में लाते हुए देवताओं ने इंद्र का बड़प्पन स्वीकार किया और वे उनके राजा हो गये। मंत्रकार कहता है —“इसी कारण से जाति में विघटन नहीं होना चाहिये, क्योंकि ऐसा होने पर दूर से भी शत्रु उनके बीच में आ धमकेगा और वे उसके शिकार हो जावेंगे।”

क्षत्रविजय में दूसरों को जीतकर अपनी शक्ति बढ़ाने की लालसा होते हुए भी राजा को इस युग में बहुकार, श्रेयस्कर और भूयस्कर कहा गया है, क्योंकि लोकागधन उसका ध्येय था (शतपथ ब्रा०, ५, ४, ४, १४-१८)। राजसूय के अवसर पर ब्राह्मण राजा को एक काठ की तलवार देते थे, वह तलवार राजा अपने भाई को देता था, भाई सूत को, सूत स्थपति (गवर्नर) को, स्थपति ग्रामणी को और ग्रामणी सजात को। ऐसा करते हुए हर एक यह मंत्र पढ़ता था, ‘तू इंद्र का वज्र है, इससे मेरी सेवा कर।’ इस क्रिया का लाक्षणिक उद्देश्य था बड़ों का छोटों पर अधिकारस्थापन। बिना इस अधिकार के क्षत्रविजय संभव नहीं था।

महाभारत और रामायण में हम जन की भावना को बहुत ही उन्नत दशा में पाते हैं। महाभारत में तो हम जन-जीवन का एक जीता-जागता चित्र पाते हैं। हंसत-खेलते और लड़ते-भिड़ते मनुष्य समाज को ही लेकर महाभारत बना है। उसके पात्र देवत्व की ओर नहीं झुकते, क्योंकि वे अपनी धरती माता को स्वर्ग से कम किसी दशा में नहीं मानते। व्यास ने तो ‘न हि मानुषाच्छ्रेयतर हि किञ्चिद्’ मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है, का मूल मंत्र देकर मानों बुद्ध के समभाव की दुहाई दी है और बाद में इसी मंत्र की गूँज हम चंडीदास के इस पद्य में पाते हैं—साव्रार ऊपर मानुष, ताहार ऊपर किछू नाई।

महाभारत से यह भी पता लगता है कि उस युग का पुरुष कोरा दार्शनिक नहीं था और वह उस गतिशील युग में ऐसा हो भी कैसे सकता था। व्यास ने धारणात्मक धर्म की परिभाषा में इस लोक को कर्मभूमि कहा है। यहाँ से आगे जो परलोक है वह फलभूमि होगा। (कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्, फलभूमिरसौ मता, वनपर्व, २६१, ३५)।

मोतीचंद्र

कर्म ही जन की सच्ची भाषा मानी गयी है। कर्म करने से जीवन में जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है (प्रकाशलक्षणादेवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः, अश्वमेध, ४३।२०)। इस कर्म-साधन के लिए मानसिक बल की तो आवश्यकता मानी गयी है, पर साथ-ही-साथ कर्मसंपादन के लिए हाथों की महत्ता पर व्यास ने काफी जोर डाला है, क्योंकि केवल मानसिक बल से बिना हाथ चलाये तो फलप्राप्ति होने की नहीं, यह तो महाभारतकार भलीभाँति जानता था। व्यास ने देवराज इंद्र के मुख से इस पाणिवाद की इस तरह व्याख्या करायी है :

“जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं कर सकते ? जिनके पास हाथ हैं वे ही सिद्धार्थ हैं। जिनके पास हाथ हैं उनकी मैं सबसे अधिक सराहना करता हूँ।

जैसे तुम गदा धन चाहा करते हो, वैसे मैं तो हाथवाले मनुष्यों की प्राप्ति चाहता हूँ। पाणि-लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। जिनके पास देवों के दिये दस अंगुलियोंवाले हाथ हैं, वे जाड़े, गरमी वरसात से अपनी रक्षा करते हुए वस्त्र, अन्न और सुख के साधन प्राप्त करते हैं। वे पृथिवी के अधिपति होकर अनेक प्रकार के भोग भोगते हैं और नाना उपायों से औरों को वश में कर लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि 'पाणिमंत' पुरुष ही बलवान् और धनवान् बनते हैं। वे ही अनेक प्रकार से आनंद करते और हँसते-खेलते हैं।” शांतिपर्व, १८० अध्याय।

महात्मा बुद्ध के उपदेश तो जन के कल्याणकारी भावों से ओत-प्रोत हैं, क्योंकि बुद्ध की शिक्षा का तो मुख्य उद्देश्य यही था कि आर्य-धर्म में समयांतर में जो कालुष्य आ गया था उसे हटाकर पुनः जन को अपने स्थान पर बिठावें। इसी भावना से प्रेरित होकर बुद्ध ने यर्णाश्रम धर्म का खंडन करते हुए कहा कि कर्म ही से ब्रह्मण होता है और कर्म ही से शूद्रः जन्मना जाति का प्रतिपादन केवल मूर्खता है। सत्य-कर्म ही उन्नति का साधन है, केवल तप से ही अपनी वासनाओं को मारकर और अपना शरीर सुखार कोई निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। धर्म चक्रप्रवर्तन करते हुए उन्होंने भिक्षुओं को यह अभिष्ट उपदेश दिया : “हे भिक्षुओ ! जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, लोक पर अनुकंपा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों का हित-सुख करने के लिए विचरो। आरंभ में कल्याणकर मध्य में कल्याणकर, अंत में कल्याणकर धर्म का शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।” बुद्ध का यह उपदेश सब काल के लिए सत्य है। उनका बनाया हुआ कल्याणकारी मार्ग केवल जन-हित के लिए ही नहीं, देवताओं के हित के लिए भी है। उस लोक हित की भावना में आदि से अंत तक कल्याण निहित है। उसमें कोई देवी-देवता की भक्ति अथवा पूजा की ओर संकेत नहीं है, उसका उद्देश्य तो है सम्यग कर्म से जन की उन्नति। हमारे युग की महान् विभूति गाँधी ने भी इसी संदेश को फैलाया,

लेकिन सदियों से अंधकार में पड़ा हुआ हमारा जन उनके इस सत्य-कर्म का उपदेश नहीं समझ सका, उनके महान् बलिदान के बाद शायद अब समझे।

महाजनक और देवी मणिमेखला के संवाद से भी बौद्ध युग की जनता का दृढ़ आशावाद और उद्यमशील कर्मगम्यता प्रकट होती है। महाजनक की कहानी में जब डूटे हुए जहाज का मत्तूल पकड़े हुए सात दिनों तक समुद्र में तैरते हुए भी महाजनक जब हिम्मत नहीं हारता तब समुद्र की देवी मणिमेखला उसके सामने आकाश में प्रकट होकर उसकी परीक्षा करने के लिए कुछ कहती है और इस तरह दोनों में संवाद होता है:—

“यह कौन है जो समुद्र के बीच, जहाँ तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ भार रहा है ? क्या अर्थ जानकर—किसका भरोसा करके—तू इस प्रकार वायाम (व्यायाम, उद्यम) कर रहा है ?”

“देवि, मैं जानता हूँ कि लोक में जब तक बने, मुझे वायाम करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच तीर को न देवता हुआ भी उद्यम कर रहा हूँ।”

“इस गंभीर अथाह में जिसका तीर नहीं दिखायी देता, ऐसा पारम वायाम (पुरुषार्थ) निरर्थक है ; तू नट तक पहुँचे बिना ही मर जायेगा।”

“क्यों तू ऐसा कहती है ? वायाम करना हुआ मरूँगा भी तो मर्दा से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम (पुरिग भित्ति, पुरुष कृत्य) करता है वह अपने कुटुंबियों, देवों और भित्तों के ऋण से मुक्त हो जाता है ; और उसे पल्लवावा नहीं होता कि मैंने अपने प्रयत्न में कोई कमर छोड़ी।”

“किंतु जिस काम के पार नहीं लगा जा सकता, जिसका फल या पारंगाम नहीं दिखायी देता, वहाँ वायाम से क्या लाभ—जहाँ मृत्यु का आगम निश्चित ही है ?”

“जो यह जानकर कि मैं पार न पाऊँगा, उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि हो तो देवि, उसमें उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार, देवि, इस लोक में अपने कार्यों की योजना बनाते और यत्न करते हैं ; सफलता हो या न हो, सो देखना उनका काम नहीं है। कर्म का फल निश्चित है देवि, क्या तू यही यह नहीं देख रही ? मेरे साथी सब डूब गये, और मैं तैर रहा हूँ ! और तुम्हें अपने पास देख रहा हूँ ! सो मैं वायाम करूँगा ही, जब तक मुझमें शक्ति है, जब तक मुझमें बल है, समुद्र के पार जाने को पुरुषकार करता रहूँगा।” श्री जयचंद्र विद्यालंकार-कृत भारतीय इतिहास की रूप रेखा, भा० १, पृष्ठ ३४६ पर दिया हुआ अनुवाद ; फासवाल, पालीजातक भा० ६, महाजनक जातक (५३६), पृ० ३५-३६।

इस अथर्वसाय और कर्म का दृढ़ता के साथ पालन करने से उस युग में सुख-दुःख किसी अवस्था में जन-जीवन सुखी था और वह आकस्मिक आपत्तियों का भी डटकर मुकाबला कर सकता था। पाली सुत्तनिपात में एक जगह धनिय गोप नाम के एक

मोतीचंद्र

मद्गृहस्थ का उद्धार दिया हुआ है जो अपनी गृहस्थी के दृढ़ साधनों को देखकर वृष्टि के अधिपति इंद्र को भी ललकारता है। उसके कथन में एक आत्माभिमान और स्वावलंबन की भावना की गूंज है जो हमें बताती है कि उस युग में इस देश का कर्मण्य किसान कितना सुखी था। धर्मिय गोप कहता है:—‘मेरे यहाँ यथेष्ट भोजन है, मेरे घर में दूधारू गायें बँधी हैं। महानदी के किनारे मैं अपने कुटुंबियों के साथ अपने घर में हूँ। मेरी कुटी भली भाँति छायी हुई है और उसमें आग जल रही है। हे देव, तुम जितना चाहे बरस लो।’

‘न यहाँ मकियाँ हैं, न मन्थूर। नदी के कछारों में गायों के चरने के लिए हरी-हरी घास लहलहा रही है। वहाँ चरती हुई मेरी गायें वर्षा का वेग संभालने में समर्थ हैं, फिर बरसो देव, जितना चाहे बरसो।’

‘मेरी गोभी का मन शुद्ध और मुझमें अनुरक्त है। बहुत दिनों से हम दोनों सुखपूर्वक साथ रह रहे हैं। उसके विषय में मैंने कभी कोई अनुचित बात नहीं सुनी, फिर बरसो देव, जितना चाहे बरसो।’

‘मैं अपनी ही कमाई से अपना भरण पोषण करता हूँ। मेरे पुत्र और मेरी पुत्रियाँ नीरोग और स्वस्थ हैं। उनके संबंध में भी मैंने कोई अनुचित बात नहीं सुनी, फिर देव, जितना चाहे बरसो।’

‘मेरा गोठ बड़बड़े-बड़बड़ाइयों से भरा है। गाभिन गायें भी उसमें हैं। गोपति वृषभ भी वियमान है, फिर देव, जितना चाहे बरसो।’

‘गायों के खूटें दृढ़ता से गड़े हुए हैं। मूँज की बटी गस्मियाँ नयी और पोढ़ी हैं। गायें उन्हें तुझ नहीं सकतीं, फिर देव जितना चाहो बरसो।’

लेकिन किसान जीवन के उपरोक्त जीवन से यह न समझ लेना चाहिए कि सब किसान सुखी ही थे। खेती बारी के घोर परिश्रम में निरत और पारिवारिक विताओं से उद्ध्वग्न किसान बहुधा अपनी समस्याओं को लेकर बुद्ध के पास पहुँचते थे और बुद्ध उन समस्याओं का समाधान करते थे। ऐसा ही एक भारद्वाज ब्राह्मण किसान जिसके चौदह ब्रैल जंगल में खो गये थे, शांतचित्त, ध्यानास्थित बुद्ध को देखकर कविता में किसान जीवन की दुर्दशा गा उठा। उसने कहा, ‘भिक्षु जीवन ही आनंदमय है, क्योंकि न तो भिक्षु के पास खोने के लिए ब्रैल होते हैं, न मृष्ट होने के लिए धान्य और फल। घर आने पर उसे ऐसा कोठार जिसमें चूहे दंड पेल रहे हों, नहीं देखना पड़ता और न उसे कृमिमय सात महीने से न झाड़े गये बिछावन पर सोना ही पड़ता है। उसे अपनी लड़करी सात विधवा कन्याओं की भी देख-रेख नहीं करनी पड़ती, न उसे ऐसी पत्नी ही है जो सोते किसान की नींद अपने पैरों की धमक से उखाड़ देती है, और न सुदखोर

‘रुपये दे, रुपये दे’ कहकर हर ब्रुवह उसे तंग ही किया करते हैं।’ संयुक्तनिकाय, अंग्रेजी अनुवाद, जि० १, पृ० २१४-१५।

ऊपर वर्णित किसान-जीवन की दुर्दशा आज दिन भी वैसी ही है। लगता है, जीवन-युद्ध से घबड़ाकर बहुत-से किसान भिन्नु हो जाना चाहते थे। इसी नाशकारी प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही गीता में श्रीकृष्ण से अनामक्ति कर्म का उपदेश दिलवाया गया। जन-जीवन में कायरता, कर्म में विरक्ति के माने तो समाज का नाश था, और प्राचीन भारतीय दर्शन की विचारधारा उसे कदापि सहन नहीं कर सकती थी।

(३)

मौर्यकाल में भारतीय जन जीवन का पता हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र और प्रियदर्शी अशोक के शिलालेखों से मिलता है। कौटिल्य ने सब नीतियों का आधार दंड माना और इसी सिद्धांत को लेकर जन-समाज की व्यवस्था हुई। जन के सब वर्गों का स्थान और उनके कर्तव्य निश्चित कर दिये गये और नियमों और कर्तव्यों से च्युत होनेवाले को कड़ी दंडव्यवस्था का आदेश दिया गया। कौटिल्य का उद्देश्य प्रजा को सुखी तो देखना था, पर प्रजा को एक मात्र राजा की ही सत्ता स्वीकार करनी पड़ती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कटोरता है राजानुशासन के लिए और इसलिए राजा और प्रजा के बीच कोमल भावों को नहीं आने दिया गया है। लेकिन प्रियदर्शी महाराज अशोक के समय राजा और प्रजा का संबंध कुछ और ही हो गया। भारतीय जनता के लिए अशोक ने अपने शिलालेखों में ‘जानपद जन’ ऐसे सम्मानित शब्द का प्रयोग किया है। गिरनार के छूटे शिलालेख में धर्मलिपि की योजना का तात्पर्य देते हुए राजा कहता है : ‘इसी अर्थ को ध्यान में रखकर मैंने इस चिरस्थायिनी धर्मलिपि को लिखा जिससे मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र उसकी शिक्षा के अनुसार सर्वलोकहित की कामना करें ! (अनुवतरं सब लोकहिताय)। यह कार्य दुष्कर है और पराक्रम में ही साध्य है (तुकरं नु इदं अजत्र अगे न पराक्रमेण)।’

अशोक के हृदय में अपने जानपद जन के प्रति अगाध प्रीति थी और उनसे साक्षात् परिचय प्राप्त करने के लिए उगने कई नये उपाय सोचे। अपने राज्यकाल के दसवें वर्ष में उसने राजा की विहार-यात्राओं को रोक और लोक जीवन से संपर्क प्राप्त करने के लिए एक नये प्रकार का दौरा चलाया जिसका नाम धर्म-यात्रा रखा गया। इसका उद्देश्य स्पष्ट था। कालमी के शिलालेख में कहा गया है : ‘जानपदसा च जनसा दसने धमनुसधि च धम पलिपुल्ला च।’ अर्थात् धर्म-यात्राओं का उद्देश्य था जानपद का दर्शन, उनको धर्म की शिक्षा और उनके साथ धर्मविषयक पूछताछ करना। यहाँ धर्म शब्द से रुढ़िगत विश्वासों के प्रचार से मतलब नहीं है। अशोक के शिलालेखों में तो धर्म का अर्थ वह आचरण है जिससे प्रजा का नैतिक और आध्यात्मिक बल बढ़ता

मोतीचंद्र

है। धर्म शब्द का यहाँ उसी अर्थ में प्रयोग हुआ है जैसा कि महाभारत के धर्मो धारयति प्रजाः सूत्र में। अत्र राजा अशोक के धर्म-यात्रा-विषयक विचार इन्हीं के शब्दों में गिरनार के आठवें शिलालेख में सुनिये—

“भूतकाल में गजे विहार-यात्रा पर जाता करते थे। इन विहार-यात्राओं में मृगया और इसी प्रकार के मनोविमोह होते थे। लेकिन राजा देवानां प्रियदर्शिन् अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद संन्योषि की यात्रा को गये। इसके फलस्वरूप धर्मयात्रा का मुजन हुआ। इन यात्राओं में ब्राह्मण और श्रमणों के दर्शन और दान, बृद्धों के दर्शन और उनके जीवन निर्वाहार्थ मुक्कण भेंट, जानपद जन का दर्शन तथा उनको समीचीन धर्मानुशासन और धर्मविपुञ्छाओं के उपदेश होते हैं।

जानपद जन के प्रति प्रेमप्रदर्शन प्रियदर्शी अशोक ने केवल अपने ही तक सीमित नहीं रक्खा। इस स्नेह-संबंध को कार्य-रूप में परिणत करने की महामात्रों को भी आज्ञा दी। धौली के पहले पृथक् शिलालेख में तोशलि के महामात्र के नाम राजाजा होती है : “तुम्हारा संबंध सहस्रों मनुष्यों से है, और तुम्हारा ध्येय उनका प्रेम प्राप्त करना है। मनुष्य मात्र मेरे पुत्र हैं (सर्वे मुनिसे प्रजाममा)। जैसे मैं अपने पुत्रों के लिए यह कामना करता हूँ कि उन्हें इस लोक और परलोक में हित सुख मिलें उसी प्रकार मैं मनुष्य मात्र की मंगल-कामना करता हूँ।” कितनी सुंदर और मंगलमयी भावना है! शायद प्रजारंजन का ऐसा मंत्र भारतीय गार्हपत्य में नहीं मिलता। अशोक के इस महान् मंत्र की प्रतिध्वनि हम अश्वमेध के जुद्ध चरित्र में भी पाते हैं—‘स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तथैव, सर्वे प्रजाभ्यः शिवमाशंसि।’ जिस प्रकार राजा अपने पुत्रों का कल्याण चाहता है उसी तरह अपनी सब प्रजा का।

अशोक ने अपने जानपद जन की स्थिति सुधारने के लिए कुछ ऐसे राजकीय पुरुष नियुक्त किये जिनका कर्तव्य केवल जानपद जन के हित-सुख की चिन्ता करना था। ये राजकु निश्चयनीय, नीतिधर्म के पक्के, सदाचारी और धार्मिक पुरुष ही होते थे। दिल्ली दोमरा के चौथे स्तंभोत्कीर्ण लेख में राजकुओं को प्रजारंजन की आज्ञा इस प्रकार दी गयी है :

“अपने राज्यारोहण के ३६ वें वर्ष में राजा ने यह आज्ञा दी। मेरे लज्जुओं का शत-सहस्र मनुष्यों (जनसि) से संबंध है। मैंने दंड या उपहार उनकी इच्छा पर छोड़ दिया है, वह इसलिए कि लज्जु अपना कर्तव्य-पालन आश्वस्त और भयरहित होकर कर सकें, और उन्हें उचित है कि वे जानपद जन को स्वास्थ्य और सुख प्रदान करें और उनकी हित कामना करें। जिस प्रकार एक चतुर धाय को अपना बच्चा सौंपकर मनुष्य प्रसन्न होता है और सोचता है, ‘यह चतुर धाय मेरे बच्चे को ठीक तौर से रखेगी,’ उसी प्रकार लज्जुओं की नियुक्ति मैंने जानपद जन के हित-सुख के लिए की है।”

प्राचीन भारतीय साहित्य में जन का स्थान

अशोक के एक शिला लेख से पता चलता है कि कलिंग युद्ध में भीषण नरसंहार को देखकर, उसका मन किस तरह युद्ध-विरत हो गया। इतना ही नहीं, किसी रूप में भी उसे जन-संहार अप्रीतिकर हुआ। गिरनार के १३ वें शिलालेख में राजा कहता है, 'मनुष्यों का वध, मृत्यु तथा देशनिष्कासन देवानां प्रिय द्वारा कष्टदायक तथा अप्रीतिकर माना गया (वधसे मरणं व अपवादो व जनस)।' अशोककालीन दुनिया में जनवध मामूली बात थी और धार्मिक और राजनैतिक अग्रहिष्णुता का धोलबाला था। पर भारतवर्ष का वह राजा उठा वातावरण से ऊपर उठा और ललकारकर सबसे कहा : हिंस्र पाप है, इस संसार में सब जन को जीने का और धार्मिक विश्वासों के मानने का अधिकार है।

जन में अंधविश्वास तथा व्यर्थ की पूजापाठ की परिपाटी प्रागैतिहासिक युग से चली आयी है। ऐतिहासिक युग में उसकी आध्यात्मिक उन्नति तो अवश्य हुई पर वह अपने अंधविश्वासों को न भूल सका। इन अंध विश्वासों को कायम रखने में स्त्रियों का बहुत हाथ था। अशोक ने इस नाशकारी प्रवृत्ति को रोकने का आदेश दिया। गिरनार के ६ वें शिलालेख में, "देवानां प्रियदर्शिनः कहते हैं : जन्म समुदाय त्रीमासी, अथवा पुत्र पुत्री के विवाह में, पुत्र जन्म पर तथा यात्रा के अवसर पर मंगल कर्म करता है। स्त्रियाँ इन अवसरों पर बहुत से लुद्ध और निरर्थक कर्म करती हैं। मंगल कर्म करने चाहिए अवश्य लेकिन उपरोक्त मंगलकर्मों का कोई फल नहीं होता। सर्वभूत दया ही श्रेष्ठ मंगल कर्म है।"

लेकिन प्रजारंजन के दृढ़ संकल्प से ही प्रजारंजन का कठिन कार्य संपादन नहीं हो सकता; उसके लिए तो राज्य में क्या हो रहा है इसकी पूरी खबर और अधीनस्थ कर्मचारियों के कठोर अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है। अशोक, जैसा कि उनके शिला लेखों से पता लगता है, लोकरंजन के इन प्रयत्नों से अभ्यगत थे और इस बात का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया कि राज्य में क्या हो रहा है इसका उन्हें समाचार मिलता रहे और इन समाचारों को सुनने के लिये राजमहल का दरवाजा रात-दिन खुला रहता था। गिरनार के छठे शिलालेख में इसी प्रश्न को लेकर, 'राजा देवानां प्रिय प्रेमा कहते हैं। भूतकाल में कार्य संपादन तथा कार्य निवेदन (रिपोर्ट) की कोई परिपाटी कहीं भी नहीं थी, पर मैंने यह व्यवस्था की है। हर स्थान पर परिवेदक नियुक्त किये गये हैं और उन्हें आज्ञा है कि वे हर अवसर पर चाहे मैं भोजन करता होऊँ, राजमहल (ओरोधन) में होऊँ अथवा गर्भागार में, चाहे गोशाला में होऊँ या पालकी में अथवा उद्यान में, जन का समाचार देते रहें। मैं सर्वत्र अपने जन का काम किया करता हूँ (सर्वत्र च जनस अथे करोमि)।"

"मैंने यह आज्ञा दे रखी है, कार्य निपटाने में मुझे कितना ही श्रम क्यों न पड़े मैं

मोतीचंद्र

संतुष्ट नहीं होता क्योंकि मनुष्य मात्र के कल्याण से बढ़कर मैं कोई कर्तव्य नहीं समझता (नास्ते हि कश्चित् सर्वं लोक हितया) ।”

जानपद जीवन को सुखी बनाने में अशोक ने बाह्य उपकरणों को भी ग्रहण किया । वह समझता था कि कोरे दार्शनिक उपदेशों से ही जानपद जन का जीवन सुखी नहीं हो सकता । उसके लिये तो अस्पताल, अच्छी सड़कें, जल की व्यवस्था भी जरूरी थी । अशोक ने इस ओर क्या-क्या किया इसका पता गिरनार के दूसरे शिला लेख से मिलता है :

“राजा देवानां प्रिय प्रियदर्शिन के राज्य में सर्वत्र तथा चोड, पांड्य, मल्लिपुत्र, केरल पुत्र, वासपुर्णी यवनराज, अंगियक, और उसके पड़ोसी राजाओं की सीमाओं पर भी प्रिय दर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्साओं अर्थात् मनुष्य चिकित्सा और पशु चिकित्सा की व्यवस्था की । जहां कहीं भी मनुष्यों और पशुओं के उपयोग आने वाली जड़ी बूटियां नहीं मिलती थीं वे बाहर से लाकर लगायी गयीं और जहां कहीं भी मूल और फल उपलब्ध नहीं होते वे बाहर से लाकर लगाये गये । रास्तों पर मनुष्य और पशुओं के व्यवहार के लिए कुएं खोदे गये और वृक्ष लगाये गये ।”*

* इस लेख में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के कई लेखों से सहायता मिली है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है ।

देवराज

हिन्दी आलोचना का धरातल

भारतवर्ष अथ एक स्वतंत्र देश है, इस परिस्थिति ने सब क्षेत्रों में हमारे उत्तरदायित्व को बड़ा दिया है। भारत के निवासी इसका अनुभव करते हैं। वे जानते हैं कि यह देश एक पुराना देश है जिसकी सभ्यता और संस्कृति अनेक सदस्यादियों से विकसित और वर्द्धित होनी आती है। उनमें जो अधिक जागरूक हैं वे यह भी अनुभव करते हैं कि इस देश का अतीत जितना महान् था उतना वर्तमान नहीं है—अनेक कारणों से हम सभ्यता की दौड़ में पिछड़ गये हैं, और हमें अपने प्रयत्नों द्वारा स्वतंत्र गम को सब दिशाओं में आगे बढ़ाना है। किंतु क्योंकि कमियों की चेतना उन्हें दूर करने की ओर पहला कदम है, इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में, हमें सतर्कता से देश की न्यूनताओं को समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

सभ्यता का प्रधान अंग है विभिन्न मूल्यों की चेतना और वैयक्तिक-सामाजिक भूमिकाओं में उनके लाभ या उत्पादन की तत्परता, इस प्रकार की तत्परता ही मूल्यांकन के प्रयत्नों को जन्म देती है। किसी देश के पूर्णतया सभ्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका सांस्कृतिक अतीत उदात्त हो, कम से कम अन्य देशों की तुलना में हीन न हो, और उसके ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में आलोचना एवं मूल्यांकन के उच्चतम मानों का पर्याप्त प्रयोग होता रहा हो। बात यह है कि व्यक्ति की भाँति किसी देश के जीवन में भी समृद्ध सांस्कृतिक दृष्टि लम्बी साधना या विकास का फल होती है। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि किसी देश की संस्कृति या सभ्यता कभी हद तक सार्वजनिक होती है। इसका यह मतलब नहीं कि देश-विशेष के सब सदस्यों को समान रूप में अधीन एवं संस्कृत होना चाहिए; किंतु इसका यह तात्पर्य जरूर है कि सांस्कृतिक मानों की चेतना इन्ने-गिने लोगों तक सीमित न होकर उस देश के शिक्षित वर्ग की सामान्य सम्पत्ति हो और यह चेतना साम्प्रतिक एवं आनेवाले प्रयत्नों के धरातल तथा मूल्यांकन का सतर्क नियंत्रण कर रही हो।

उपर्युक्त कसौटी का प्रयोग करने पर हम आधुनिक भारतवर्ष को पूर्णतया सभ्य नहीं कह सकेंगे। और इसका केवल यही अर्थ नहीं कि वह भौतिक समृद्धि में अन्य देशों से पिछड़ा हुआ है अथवा उसके निवासी पर्याप्त मात्रा में वैज्ञानिक यंत्रों एवं साधनों का

देवराज

उपयोग नहीं कर रहे हैं, एतलकालीन भारत सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी संसार के सभ्यतम गण्टों से पीछे है। इन क्षेत्रों में हमारे देशवासी, अन्य देशों की अपेक्षा से, उच्चतम मानों की चेतना लिए हुए नहीं चलते रहे हैं जिसके फलस्वरूप उनके मूल्यांकन एकांगी एवं संतुलन-शून्य होते रहे हैं। कहना नहीं होगा कि इस परिस्थिति का एक प्रमुख कारण हमारी राजनैतिक एवं आर्थिक दुरवस्था रही है। वह नहीं कि इस बीच में हमने धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य आदि क्षेत्रों में बड़ी प्रणिमाओं को उत्पन्न नहीं किया; किन्तु उन प्रतिभाओं के प्रति हमारा भाव विस्मय-मूलक स्तुति एवं अभिमान का अधिक रहा, सहज प्रसन्नता-मूलक प्रशंसा का कम। हम गांधी और रवीन्द्र, जवाहर और राधाकृष्णन् के व्यक्तित्वों में गर्व का अनुभव करते रहे जिसका मुख्य कारण यह था कि उन्होंने दुनिया के सामने हमारे दीन-दलित देश का गिर ऊँचा किया; हमने यह देखने की कोशिश नहीं की कि कहाँ तक ये लोग देश अथवा मानवता के सांस्कृतिक विकास को आगे बढ़ा रहे हैं। साथ ही हमने उन व्यक्तित्वों की न्यूनाधिक उपेक्षा भी की जो साक्षात् भारत के आत्मसम्मान अथवा अन्तर्गर्भीय स्वायत्ति की दृष्टि में सहायक नहीं हुए, भले ही वे देश को भीतर से पुष्ट करते रहे हों। अवश्य ही इस विपर्यय का कारण हमारे इतिहास का आपतकाल था; फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की मुख्य-दृष्टि किसी सभ्य देश का स्वाभाविक रूप नहीं है। इंग्लैंड जैसे देश में भी युद्ध-काल में चर्चिल जैसे व्यक्ति अना-समय का भेद करने लगते हैं, किन्तु युद्धोत्तर-समय में चर्चिल की तरह इस बात की ओर ध्यान देने वाले लोगों की मुख्य-चेतना अपनी विकृत नहीं हो गयी थी। जैसे ही इंग्लैंड में ये विचारों और वैज्ञानिकों को उत्तम विस्मय और गर्व से नहीं देखा जाता जैसे कि हमारे देश में सर राधाकृष्णन्, सर भी० वी० रमण तथा जगदीश चन्द्र बसु को देखा गया।

सब क्षेत्रों की भाँति साहित्य में भी हमारे मूल्यांकन के मान एकांगी अथवा असंतुलित रहे हैं। अवशिष्ट लेख में हम इसी क्षेत्र की विशेष पर्यालोचना करेंगे।

मूल्यांकन एवं समीक्षा-दृष्टि की उक्त कमी को यदि हम स्वरूप में प्रकट करना चाहें तो कह सकते हैं कि वह बौद्धिक प्रौढ़ता (maturity) की कमी या अभाव है। यह प्रौढ़ता क्या है? टी० एस्० इलियट ने एक जगह लिखा है कि 'यह माने बिना कि सुनने वाला प्रौढ़ता या परिपक्वता के अर्थ से पहले से ही परिचित है, उक्त शब्द की परिभाषा करना असंभव है। यदि हम स्वतः पूर्ण विकसित अथवा प्रौढ़ हो चुके हैं, और साथ ही शिक्षित भी हैं, तो जिस प्रकार हम इतर मनुष्यों में प्रौढ़ता को पहचान लेते हैं, उसी प्रकार किसी सभ्यता अथवा साहित्य में भी पहचान सकेंगे।' अन्यत्र उक्त शब्द को लक्षित करते हुए इलियट ने उसकी अन्यतम विशेषता "अतीत की समीक्षित चेतना" (Critical sense of the past) कथित की है। समीक्षित चेतना

मे तात्पर्य है तुलना मूलक चेतना जो एकाधिक अतीत सभ्यताओं के परिचय से ही उत्पन्न हो सकती है और जिसमें मूल्यांकन का भाव संनिविष्ट रहता है। हमारा विचार है कि अब तक की हिंदी-आलोचना में उक्त चेतना की गहरी कमी रही है।

भारतेंदु युग से अब तक के हिंदी-साहित्य में, और उससे भी अधिक हिंदी-आलोचना में, उक्त चेतना का प्रायः अभाव रहा है। यह नहीं कि इन दिनों हम अपने अतीत की ऐतिहासिक स्मृति खो बैठे थे ; किंतु यह स्मृति उस सजीव चेतना से भिन्न थी जो वर्तमान को अनुप्राणित करती हुई आगे बढ़ाती है। हमारा, अर्थात् हिंदी-भाषी प्रांतों का, सांस्कृतिक पुनर्जागरण बौद्धिक दृष्टि से बहुत कुछ अधूरा रहा। हमने किसी रामकृष्ण, विवेकानंद अथवा अरविंद घोष को उत्पन्न नहीं किया। यही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में हमारे किसी लेखक को कालिदास, भवभूति और उपनिषदों की वैसी विकसित साक्षात् चेतना नहीं रही जैसी कि हम सर्वप्रनाय में पाते हैं। हिंदी के आग-भागी—और यह उल्लेखनीय है कि यह अभिमान प्रायः अन्य प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा में रहा, विश्व साहित्य की नहीं—सूर-तुलसी की दुहाई अक्सर देते रहे, पर उनमें उतना साहम नहीं था कि अपने को वाल्मीकि और कालिदास का उत्तराधिकारी घोषित करें। जिन दयानंद और गांधी का हिंदी-भाषी प्रांतों पर विशेष प्रभाव पड़ा वे भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण जागरण के प्रतीक न थे। हममें अतीत की चेतना विभिन्न बाहरी शक्तों से आयी इसलिए वह अपेक्षाकृत खंडित एवं अनुर्वर रही।

यहाँ यह स्मरण दिला देना अप्रासंगिक न होगा कि हिंदी-साहित्य के प्रायः समग्र इतिहास में उस समृद्ध, सर्वांगपूर्ण भारतीय संस्कृति की जिसके बौद्ध और हिंदू रूपों का चरम विकास क्रमशः मौर्यकाल और गुप्तयुग में हुआ, चेतना का अभाव-सा है। इसीलिए जहाँ भक्तिकाल में हमारा लौकिक कान्य ईश्वर को केंद्र में रखकर ही न्यूनाधिक विकसित हो सका वहाँ वह रीतिकाल में नैतिक धरातल से च्युत होकर नितांत एकांगी बनकर रह गया। हमारे निर्गुणी कवियों में भी उपनिषद्-काल की मनोरम ऋजुता, गहराई और जिज्ञासा-वृत्ति का अभाव है।

जब हमारे आलोचकों ने भारतेंदु को एक युग-प्रवर्तक साहित्यकार घोषित किया तो उन्होंने इस बात का प्रमाण तो दिया कि वे हिंदी और हिंदुस्तान के प्रेमी हैं, किंतु इस बात का कोई संकेत नहीं दिया कि वे एक ऐसे देश के निवासी हैं जहाँ हजारों वर्ष पहले भास और कालिदास के नाटक लिखे गए थे तथा 'नाट्यशास्त्र' एवं 'दशरूप' जैसे उन्नत लक्षण-ग्रंथ प्रस्तुत किये जा चुके थे।

छायावाद के प्रति भी हमारे आलोचकों का ऐसा ही असंतुलित प्रशंसा-भाव रहा। जिस देश में वाल्मीकि ने अपने विगट् महाकाव्य का प्रणयन किया और जहाँ 'मेघदूत', 'रघुवंश' तथा 'कितावर्जुनीय' और 'माघ' में भी नितांत मनोरम, प्राञ्जल

और शक्तिपूर्ण साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठा हुई, वहाँ छायावादी काव्य की अस्पष्ट, धूमिल अथवा उलझी हुई सृष्टि का इतना उत्साह से स्वागत होना इस बात का द्योतक है कि हिंदी भाषी जनता भारतीय साहित्य की महनीय परंपरा से सर्वथा विच्छिन्न हो गयी थी। अधिकांश हिंदी आलोचक मूर और तुलसी के भी समीक्षात्मक अध्ययन से वंचित थे और उन्हें यह अवगति न थी कि उक्त कवि विश्व-साहित्य की अपेक्षा में क्यों और कितने महान् हैं। इस बात का विचार करने की कुछ भी क्षमता न रखते हुए कि प्रसाद की 'कामायनी' ने हमारे देश की साहित्यिक परंपरा को कहाँ तक, और किस दिशा में, आगे बढ़ाया है उसके कुछ भक्त उसे 'रामचरित मानस' के बाद का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य, अथवा 'मानस' का समकक्ष, घोषित करने को उतावले हो गये।

आश्चर्य की बात है कि पं० गमचंद्र शुक्ल जैसे उच्चकोटि के रसज्ञ आलोचक भी इस प्रकार की अप्रौढ़ता से न बच सके। उनके 'इतिहास' में रीतिकालीन कवियों की लंबी-चौड़ी सूची तथा 'गद्य-साहित्य का प्रसार' शीर्षक अध्याय में लेखकों और नामों की भरमार, भारतेंदु के प्रति, कोरी कृतज्ञता से भिन्न, उनका विस्मय मिश्रित भक्तिभाव इसके निदर्शन हैं कि मूल्यांकन की चेष्टा में व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि का निर्वाह बहुत कठिन काम है। यह भी सत्य है कि पं० शुक्ल में भारत की हास-युगीन पौराणिक सभ्यता की जितनी चेतना थी उतनी हिंदू स्वातंत्र्य के महत्तर युग की नहीं, इसीलिए जहाँ उन्होंने कतिपय द्विवेदी-युगीन कवियों की कुछ अधिक प्रशंसा की वहाँ वे प्रसाद के नाटकों को उचित महत्व नहीं दे सके।

'अतीत की समीक्षित चेतना'—इलियट की इस वर्णना में कुछ संशोधन या परिवर्तन करके हम कहेंगे कि मानसिक प्रौढ़ता का अर्थ इतिहास की अनेक महती सांस्कृतिक परम्पराओं की मननात्मक अथवा आलोचित अवगति है। इस प्रकार की अवगति या चेतना आज के मनुष्य के लिए और भी आवश्यक है क्योंकि अब विभिन्न देशों या जातियों का भौगोलिक एकांत नष्ट हो चुका है और उनके सांस्कृतिक मिलन की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। क्या इस दृष्टि से हमारे लेखकों का कृतित्व कुछ अधिक श्लाघ्य हो सका है?

हमें खेद है कि उक्त प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक नहीं हो सकता। अपने अतीत की जागरूक चेतना के अभाव में यह अनिवार्य था कि हम योरप के प्रति असंतुलित प्रतिक्रिया करते। योरपीय विचारों और विचारकों से प्रभावित होना अवश्यभावी था, अपेक्षित था; पर यह जरूरी न था कि हम उनसे चकित और अभिभूत भी होते। यह भी जरूरी न था कि हम उनका एकांत विरोध करते, जैसा कि कट्टरपंथियों और आर्यसमाजियों ने किया। ये दोनों प्रतिक्रियाएँ हमारी बौद्धिक दुर्बलता की द्योतक थीं।

बाहरी प्रभावों के प्रति व्यक्ति और राष्ट्र अनेक तरह की प्रतिक्रिया करते हैं।

निर्तांत्र साधारण बुद्धि या व्यक्तित्ववाला पुरुष (और कभी-कभी राष्ट्र) प्रथम-परिचित बड़े विचारक या महापुरुष के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है ; उससे अधिक विकसित व्यक्ति अनेक विचारकों या शिष्टों का तुलना-मूलक परीक्षण करके अपनी धारणाएँ बनाता है ; उन्नततम मस्तिष्क, व्यक्तियों के आकर्षक जाल से मुक्त होकर, विभिन्न इतिहासों की संचालक परंपराओं की मननात्मक चेतना प्राप्त करता है । यह अंतिम चेतना ही एक सभ्य राष्ट्र के आगे बढ़ने में सहायक हो सकती है ।

हमारे देश में योरोपीय सभ्यता के प्रति रवींद्र और राधाकृष्णन की प्रतिक्रिया तीव्ररी कोटि की रही ; हिंदी ने इंग कक्षा का कोई लेखक उत्पन्न नहीं किया । हमारे लेखकों की प्रतिक्रिया स्वदेशीय संस्कृति के प्रति प्रायः स्तुति मूलक रही ; इस प्रतिक्रिया का सबसे उदात्त रूप हमें प्रसाद के नाटकों में मिलता है । किंतु प्रसाद में इतनी क्षमा न थी कि वे योरोपीय सभ्यता के महत्तर तत्वों की समुचित परीक्षा एवं स्वीकृति करके उनका भारतीय संस्कृति से सामंजस्य उपस्थित करते । वस्तुतः प्रसाद में भारत के श्लाघ्य अतीत की चेतना ही प्रबुद्ध है ; वे एक मनस्वी देशभक्त थे और योरोपीय संस्कृति से तटस्थ-से रहे । हमारे अन्य लेखक भारतीय संस्कृति में इतने नहीं घुम सके, और योरोपीय संस्कृति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया प्रायः पहली अथवा दूसरी कोटि की रही । उदाहरण के लिए पंत आदि छायावादी कवि अंशतः शैली, कीट्स आदि रोमांटिक कवियों से और फिर रवींद्र से विशेष प्रभावित हुए । भारतेन्दु तथा प्रेमचंद में भारतीय अथवा विदेशी किसी भी संस्कृति की तीव्र चेतना नहीं है ; वे पूर्ण अर्थ में गम-सामयिक भारत के लेखक थे और भारतीय संस्कृति तथा योरोपीय प्रभाव को उम्मी हृद तक जानते थे जहाँ तक वे तत्कालीन भारतीय जीवन में जीवित या प्रतिफलित थे । यहाँ हम कह दें कि हिंदी के किसी भी लेखक का भारतीय एवं योरोपीय संस्कृति से उतना प्रगाढ़ परिचय नहीं रहा जितना कि रवींद्र और राधाकृष्णन का ; संभवतः उनमें से कोई भी 'प्राचीन साहित्य' तथा 'रिलिजन आफ मैन' जैसे आलोचनात्मक एवं चिंतनपूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत करने योग्य न था । रविवात्रू का कालिदास और उपनिषदों से जितना गहरा एवं सहानुभूतिपूर्ण परिचय था, वैसा ही वैज्ञानिक विकासवाद तथा हेगलिक अय्यात्मवाद से भी । हिंदी-प्रेम की भोंक में रवींद्र तथा प्रसादादि साहित्यकारों के इस बृहत् अंतर को अनदेखा करके हमारे कला-पारखी अपने साहित्य का कुछ भी कल्याण नहीं कर सकेंगे ।

किंतु हम हिंदी आलोचना की बात कह रहे थे । विश्व की संस्कृतियों का पांडित्य-पूर्ण ज्ञान होना कलाकार के लिए उतना आवश्यक नहीं है जितना कि आलोचक के लिए । कलाकार एकांगी तथा प्रांतीय होकर भी महनीय सृष्टि कर सकता है ; सूर और प्रेमचंद, मीरा और बिहारी, तथा उर्दू के अनेक कवि इसके अमर उदाहरण हैं ।

किंतु एकांगिता और प्रांतीयता समीक्षक के लिए धातक हैं। एकांगी साहित्यकारों की अधिक-से-अधिक प्रशंसा करते हुए भी आलोचक को यह निर्देश करना नहीं भूलना चाहिए कि उनकी एकांगिता अथवा अपूर्णता का ठीक क्या रूप है। इलियट ने उद्धृत पुस्तक में कहा है कि एलिजाबेथ-युग का अंग्रेजी साहित्य पूर्ण रूप से प्रौढ़ नहीं है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका सफल मूल्यांकन कोई कम प्रौढ़ बुद्धि का आलोचक कर सकता है। आधुनिक हिंदी-साहित्य का यह असौभाग्य हो सकता है कि उसने खींद जैसे विश्वदर्शी कलाकारों को उत्पन्न नहीं किया, किंतु उसका अधिक बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उसने ऐसे क्रांतदर्शी आलोचकों को जन्म नहीं दिया जो उसके लेखकों का थोड़ा भी पथ-प्रदर्शन कर सकते—समुचित मूल्यांकन द्वारा उनके गुणों तथा कमियों पर तीव्र प्रकाश डाल सकते। अतीव गहरी रसज्ञता वाले शुक्लजी भी, अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण की सीमाओं के कारण, हमारी साहित्य सृष्टि को आगे बढ़ने की प्रेरणा न दे सके।

दुर्भाग्यवश, आज भी हमारी स्थिति विशेष बदली हुई नहीं है। हिंदी आलोचक विश्व साहित्य तथा संस्कृति की अपेक्षा में, संस्कृत साहित्य तथा भारतीय संस्कृति का महत्व समझते हैं, इसका सुझाव उन्होंने अभी तक नहीं दिया है—अभी तक हमने अपने देश का सफल उद्घाटन अपनी वाणी में नहीं किया है। आज भी हमारा योग्य विचार-धाराओं के प्रति ग्रामीण विस्मय अथवा अतर्कित स्वीकृति का भाव है। हमारे कुछ आलोचक कट्टर रूप में मार्क्सवादी हैं तो कुछ कट्टर फ्रायडवादी; दुर्भाग्यवश हमारे कवियों का वेदांतवाद भी सहज सजीव प्रेरणा रूप न होकर प्रायः साम्प्रदायिक सिद्धांतवादिग्रन्थ, अथवा लौकिक प्रेमानुभूति को धार्मिक बना पहनाने के प्रयत्न-रूप, रहा। आज हमारे आलोचक हाल ही में अस्तित्व में आये हुए नर-विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि के नामों से इतने अधिक चकित हैं, और साहित्यिक आलोचना में अपनी तद्विषयक जानकारी प्रकट करने को इतने लालायित हैं, कि उन्हें यह सोचने की भी फुर्सत नहीं है कि साहित्यिक मूल्यांकन में ये शास्त्र कहीं तक प्रासंगिक (relevant) हैं।

हमारी सांप्रतिक संकीर्णदृष्टि अथवा एकांगिता के निदर्शन दुर्लभ नहीं हैं। जब हमारे प्रगतिवादी मित्र सामाजिक उपयोगिता को ही साहित्य की एकमात्र कसौटी घोषित करते हैं तब वे यह सोचने को नहीं रुकते कि क्यों 'मेघदूत' और 'सरसागर', शालिग्र का 'दीवान' अथवा बिहारी की 'सतसई' सहृदयों को आनंद देते रहे हैं और क्यों आज भी नितांत पुराने नाटकों और महाकाव्यों का अनुशीलन व्यर्थ नहीं है। उपयोगिता की जो धारणा हमारे कुछ मित्रों ने बना रखी है उसके अनुसार सम्भवतः उपनिषद् और गीता, बुद्ध और ईसा ने संसार का कभी कोई कल्याण नहीं किया है, और आज तो उनकी स्मृति व्यर्थ ही है।

इसी प्रकार जब फायड आदि के कुछ भक्त दमित अचेतन वासनाओं के उद्घाटन को ही आंतरिक प्रगति का सूत्र कथित करके साहित्य का एकमात्र कार्य बतलाते हैं तब ये शतशः महनीय कलाकारों के रचना वैविध्य को ही नहीं, जीवन की जटिलता और बहुमुखता को भी एकधारगी भुला देते हैं। और इस प्रकार के पैमानों का प्रयोग करके जब यह कहा या समझा जाता है कि कुछ दिनों से विश्व के उपन्यास साहित्य का नेतृत्व हिंदी के कुछ लेखकों में संक्रांत हो गया है तो हम में से कुछ को यह समझना कठिन हो सकता है कि वे यकायक गर्व से फूल उठें अथवा अपनी अगुण-प्राहकता से लजाकर विश्व के कृती लेखकों की ओर से आँखें फेर लें।

साहित्य का मानदण्ड या तो मानवता का अशेष—जैवी और मनोवैज्ञानिक, नैतिक और सांस्कृतिक—जीवन है, अथवा महान् कलाकारों की वे कृतियाँ जो इस जीवन के विस्तार और गहराई को अनेक ढंगों से उद्घाटित करती रही हैं। साहित्य-विशेष के महत्व की तोल मिट्टाओं के बाटो से नहीं, मानव जीवन की समग्रता अथवा उसे व्यक्त करने के प्रयत्नों की आपेक्षिक पूर्णता से ही हो सकती है। और इस तोल का उपयुक्त अधिकारी बही हो सकता है जिनने विश्व के शतशः कलाकारों एवं विचारकों की सहायता से अपनी जीवन-दृष्टि को समृद्ध किया है। अधिकारी समीक्षक कभी संकीर्ण तो हो ही नहीं सकता—उसमें नैतिक और धार्मिक, वैयक्तिक और सामाजिक सब प्रकार की मानव अनुभूतियों से सहानुभूति रखने की क्षमता होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि वह आलोच्य लेखकों की सीमाओं का निर्देश नहीं करेगा—इस प्रकार का निर्देश तो उसका गृह्य और मानव-संस्कृति के प्रति कर्तव्य है—पर वह एकांगी कलाकारों की शक्ति और समग्रता की भी उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

श्रेष्ठ समीक्षक में आत्म विश्वास होता है, पर अहंकार उसका स्वभाव नहीं है। अस्तुतः अहंकार हमारी आंतरात्मिक दुर्बलता का चिह्न है—यह इस बात का चोकर है कि अभी हमारी साधना अपर्याप्त है और हमारा प्रश्नों की जटिलता अथवा मानव-बुद्धि की सीमाओं से गहरा परिचय नहीं है। जहाँ भौतिक विचार-पद्धतियों के निर्मायकों में आव्य विश्वास का अतिरेक शोभन लगता है, वहाँ थोड़ी सी संदेहवादिता, अहंकारी मनुष्य के प्रयत्नों के प्रति थोड़ा-सा हास्यभाव, अच्छे आलोचक का आभूषण है।

हमारी सांप्रतिक समीक्षा की गठन में ऊपर संकेतित अभावों के साथ अविनय अथवा अहंकार का काफ़ी पुट देखा जा सकता है। अवश्य ही इसका कारण हमारी निराली परिस्थितियाँ हैं—सर्वत्र आलोचना-परंपरा का अभाव, प्रबुद्ध पाठकों की अल्प-संख्यकता, तथा प्रतिद्वंद्वियों की विरलता; किंतु परिस्थितियाँ तो प्रत्येक कमी और भूल के पीछे होती हैं। यह जानने हुए भी कि हमारे देश में विश्लेषण-मूलक निर्गुणात्मक आलोचना का आरंभ योग्यीय समीक्षा में प्रायः तीन-चार शताब्दी बाद हुआ है; कि

हमारी भाषा आज भी बहुमुखी वैज्ञानिक चिंतन का माध्यम नहीं है ; और हमारी जनता नूतन विचार-परंपराओं से बहुत दूर तक अछूती है—यह जानते हुए भी मेरी यह धारणा है कि अपेक्षित प्रयत्न द्वारा हम इस दिशा में शीघ्र ही उन्नततम देशों के समकक्ष हो सकते हैं । बात यह है कि आलोचना न्यूनाधिक एक बौद्धिक व्यापार है, और उसकी प्रगति का वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है । साथ ही हमारे देश में न तो श्रेष्ठ साहित्य की ही कमी है, न उच्च कोटि की प्रतिभा की । आवश्यकता केवल इस बात की है कि हमारे प्रतिभाशाली मस्तिष्कों में उपयुक्त बौद्धिक जिम्मेदारी की चेतना प्रबुद्ध हो, और वे समस्याओं की व्यापक जटिलताओं से उतनी ही गंभीरता से उलझने के अभ्यस्त बनें जैसा कि उन्हें विश्व के उन्नततम राष्ट्रों में रहने पर करना पड़ता । संक्षेप में, श्रेष्ठ वैज्ञानिकों की भाँति श्रेष्ठ साहित्य-समीक्षकों और विवेचकों में भी यह भावना रहनी चाहिए कि वे अखिल विश्व के समानधर्मा लेखकों की जानकारी और अपेक्षा में सोच या लिख रहे हैं । इस चेतना की उपस्थिति में वे न तो सहज भाव से जहाँ-तहाँ एकांगी गौरव ही दे सकेंगे, और न विकृत अहंमन्यता अथवा दुर्विनीत अभिमान का ही प्रदर्शन कर सकेंगे । उस दशा में उन्हें यह साहस न होगा कि दर्जनों 'वर्षों' से प्रचारित होते आये वादों या सिद्धांतों को मौलिकता के हास्यास्पद दावे के साथ देश की जनता के सामने पेश करें, अथवा मत विशेष की पोषक अशक्त रचनाओं की निर्लज्ज अरमत्ता से प्रशंसा करते फिरें । साथ ही वे विरुद्ध मतवालों के प्रति उदार और सहिष्णु होना भी सीखेंगे क्योंकि एक सभ्य देश में किसी को बहुत काल तक अप्रासंगिक अथवा एकांगी वादों के आधार पर निंदास्तुति करते रहने की सुविधा नहीं मिल सकती ।

शान्ति देवबाला

लल्ला का जुकाम

लाला बेनीराम की ज़िंदगी आराम से कट रही थी। जीवन के विश्रान्त-सागर में कभी ज्वार-भाटा न आया था, सुख के नन्हें दीपक के प्रकाश में उन्होंने दुःख का हंटा कभी न देखा था।

बाहर आँगन में बिंदा ने लुइकाव कर दिया था, गर्मी से झुलसी पृथ्वी सारे पानी का पीकर चैन की साँस ले रही थी, और उसकी सौधी-सौधी महाँक से लाला बेनीराम की नाक भर रही थी। अपनी ढीली खाट पर बैठे हुए वे बाँयें हाथ की हथेली में रखी सुरती को दाहिने अँगूठे से ममलते हुए मुँह भी साथ-साथ चला रहे थे। तबले पर ताल पड़ते ही जैसे सिर हिल जाता है वैसे ही अँगूठे की प्रत्येक चाल के साथ ओठ भी हिल जाते थे। उनकी आँखें चारों ओर फिरकी की तरह नाच रही थीं कि कहीं रोकथाम करने को मानव का हाँचा ही मिल जाय।

इतने में 'छी-छी' का सा शब्द सुनायी पड़ा। लाला बेनीराम के कान खड़े हो गये। निर्मि ने उनकी आँखों पर से डेरा उठा लिया, और दाहिना हाथ मुँह की धरोहर सुरती मुँह को ही लौटा देने के लिए शीघ्रता से लपका।

लाला बेनीराम पैतरा बदलकर देखने ही वाले थे कि आखिर यह शब्द कहाँ से आ रहा था, पर खटिया चर्चा उठी। 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति', सब में एक ही ब्रह्म है, क्या जड़ और क्या चेतन—खटिया ने भी उनका अभिप्राय जानकर पहले ही से चेतावनी दे दी कि अगर लाला अधिक हिले-डुले तो भरती पर ला धरेगी! बेचोर बेनीराम को गर्दन झुकाकर ही संतुष्ट होना पड़ा।

देखते क्या हैं कि दोनों किवाड़ ठेलती हुई ललाइन आँधी की तरह चली आ रही हैं।

“आखिर तुम दरवाजा तोड़कर ही चैन लोगी, बाप-दादों की एक ही निशानी तो बची है, सो वह भी तुम्हारे मारे बचने पाये तब न !”

“हाँ, मैं तो तुम्हारी दुशमन हूँ न—”

लाला बेनीराम की जीभ कहने को बड़ तो गयी पर डर के मारे सुरती को गले के नीचे धकेल दुबकी हो गयी।

शांति देवबाला

“मैं क्यों फिकर करने लगी, जब से इस घर में आयी एक पल को तो चैन नहीं मिला। शरीर गला-गलाकर तुम्हारा घर सँभाला, पर औरत जात का क्या, जितना भी करे उसके पल्ले कुछ थोड़े ही पड़ता है।”

लाला बेनीराम समझ गये कि उबाल बहुत तेज है। पानी में रहकर मगर से क्या बैर—बड़ी कठिनाई से जीभ को दाँतों के कटघरे में बंद किये रहे।

“चैन से कटती है तभी तो यह हाल है। कितनी बार कहा लल्लू की नाक बहुत बह रही है, आज तो माथा भी गरम हो गया है पर तुम कुछ काहे को सुनोगे। अपने बच्चे की ओर से ऐसी बेफिकरी तो मैंने कहीं नहीं देखी।”

“अरे, तो इतनी चिगड़ती क्यों हो ? जितने डाक्टर कहो बुला दूँ, आज ही सिविल सर्जन बुलाये देता हूँ।”

“सिविलसर्जन तो तुम्हारे क्या करेंगे कोई ‘कंपोडर’ हो तो बुला दो, अभी जब रमा बीमार पड़ा था तो ‘कंपोडर’ ही आया था।”

“कंपाउंडर मँहगा बहुत पड़ेगा, कुछ करते-वरते तो हैं नहीं और रुपया ऐंठ लेते हैं।”

“तो कौन तुम्हारे आगे पीछे है, एक ही बच्चा तो है।”

लाला बेनीराम का मुख झुलसी हुई कली की तरह फीका पड़ गया, बेचारे कुछ उत्तर न दे सके और ‘कंपोडर’ बुलाने के लिये हामी भर ली। भरने को भर तो ली पर शहर में किसी को जानते न थे, बीमारी से कभी उनकी भेंट न हुई थी जो उसका नजराना देने के लिए कंपाउंडरों या डाक्टरों से मिलते। फिर नाक बहना तो कोई बीमारी न थी, बचपन में बहुत बार जब ऊर्ध्व साँस लेकर वे उसे संभालने में असमर्थ हो जाते थे, तो बहने को छोड़ देते थे। अधिक से अधिक और यही दवा उनकी माँ, दादी, के पास भी थी कि उसे उठाया और दीवार पर कैलेंडर की तरह टाँग दिया। पर यह जमाना नया था, जमाने के साथ चलना पड़ता है, न चलो तो मालगाड़ी की भौंति पीछे बोझ भर दोने को रह जाओ। एक बार तो ध्यान में आया कि ललाइन से कह दें, कुछ घर की दवा कर लें, धीनफशा ही पिला दें, पर हामी भर चुके थे। अब तो इज्जत का सवाल था; घर में ही साख का काम था, मर्द की एक बात।

दिन दल चुका था, सुंदरी संध्या आकाश में विहार कर रही थी। कोई और दिन होता तो बेनीराम रसिकता से निरीक्षण करते पर आज तो जीवन का मजा ही किरकिरा हो गया था। बेचारे उठे, अलगनी से कुरता उतारकर गले में डाल लिया। मुँह सूखकर अकड़ रहा था, दिल ने एक बार तो जोर मारा कि ललाइन से गुड़ का शर्बत मँगा लें पर हिम्मत न हुई, बाहर चल दिये।

बाहर निकले ही थे, कि विध्याप्रसादजी मिल गये।

“जय राम जी की, कहो क्या हाल है ?”

“बहुत ही मुसीबत में हैं, क्या बतायें, भगवान ने हमारे भाग्य में आराम से बैठना तो लिखा ही नहीं।”

“आखिर, बात क्या हुई ?”

“होता क्या लल्लू की तबियत ही खराब हो गयी।”

“तो क्या, गली के इस मोड़ पर डाक्टर बुधवार की दुकान खुली है, ले लो दवाई।”

लाला बेनीराम अभी दवाई लेकर घर पहुँचे भी न थे कि खिड़की से भाँकती हुई ललाइन की दोनों आँखें दिखायी पड़ गयीं।

“तुम्हारा लल्लू तो बड़ा भाग्यवान है, कोई पूर्व जन्म की पुन्याई बाकी थी कि घर के पास ही डाक्टर ने दुकान खोल ली।”

बेनीराम ने विजय की साँस ली मानों शेर का शिकार करके लांटे हों। आँगोछे की छोर में बँधी पुड़िया खोलकर ललाइन के हाथ पर धर दी।

ललाइन जो अभी तक मंत्रमुग्ध नवोढ़ा की भाँति लाला के मुख को देख रही थीं, एक बार ही बिल्ली की तरह झपट पड़ीं।

“यह उठा लाये हैं, और यह कोई दवा में दवा है ! इतना बड़ा शरीर और यह दो धुँधची-सी गोलियाँ क्या करेंगी, कुछ तो सोचा होता कि रुपये ही फेंकने थे।”

विध्याप्रसाद जी बीच में ही बोल उठे, “भौजी, बिगड़ती क्यों हो, आज-कल यही दवा चलती है।”

लाला बेनीराम को तिनके का सहाग मिला, यद्यपि मन में कुछ हुलास बाकी न रह गयी था पर तब भी बोले, “अरे, अब वह जमाना गया। पहले और बात थी, लोग सच्चे थे, ईमानदार थे, पैसा लेते थे तो चीज भी देते थे।”

विध्याप्रसाद ने कहा, “नहीं, लाला बेनीराम यह बात नहीं, होमियोपैथी की गोलियाँ इतने में ही लाभ पहुँचायगी।”

“रहने दो लाला, ऊँट के मुँह में जीरा यह गोलियाँ गले के नीचे भी न उतरेंगी।”

“अब तुम्हें क्या समझाऊँ भौजी, डाक्टरी में बहुत उन्नति हो गयी है।”

लाला को जोश आ गया, “नहीं, यह आप नहीं कह सकते, जो पहले था, अब कहाँ ! पहले क्या शरीर होते थे ! क्या खान-पान था ! अब तो सब सपने हो गये।”

“तो उससे क्या मतलब जी,” विध्याप्रसाद को कुछ क्रोध आ गया, “खान-पान और डाक्टरी से क्या संबंध।”

“कैसे नहीं, पहले के डाक्टर बहुत उन्नति कर चुके थे, यह तो अँगरेजों ने आकर हमारी सब विद्यायें हर लीं, हमें कुछ मालूम ही नहीं कि हम क्या थे।”

“तो क्या थे” विध्याप्रसाद जी बिगड़ उठे।

शांति दबवाला

“अरे क्यों बिगड़ते हो, जितने प्रमाण कहो दे दूँ” और उन्होंने ललाइन को, जो अब तक उदर पूजा का सामान सँजोने चौके में घुम गयी थी, उच्च स्वर से पुकारा।

“सुनती हो, जरा रामायण तो लाना।”

विध्याप्रसादजी का पारा चढ़ गया, बोले “यही तो हमारी मनहूसियत है, कुछ भी हुआ रामायण उठा ली।”

“इसी अश्रद्धा ने तो हमारा सत्यानाश किया।” लाला बेनीराम ने रामायण को श्रीचोबीच से ऐसा खोला मानो सेब की दो बराबर फाँके ही काटकर रख दी हों। कुछ आँग पन्ने पलटकर वे रुक गये, “देखते हो यह गवण का चित्र।”

“हाँ, कहो” विध्याजी को कुछ समझ न आ रहा था।

“देखो, गवण का चित्र अच्छी तरह से देख लो, यह देखो उसके दम शिर आँग भीम हाथ। और यह देखो सुरमा जिसकी जिह्वा पर हनुमान जी दौड़ रहे हैं।”

“तो कहो” विध्याप्रसाद ने अकचकाकर कहा।

“आखिर यह सब भी तो कभी बीमार पड़ते होंगे, आजकल तो डाक्टर पाँच फीट कं, एक सिर दो हाथवाले मनुष्य को नहीं संभाल पाते, और तब हमारे बैद्य इन सबकी रक्षा करते थे। कभी इन्हें भी संग्रहणी के रोग से मरते सुना।”

विध्याप्रसादजी भी सोमं गये। लाला बेनीराम की बाँछे खिल गयीं।

“और सुनो अब तो फेफड़े स्वयं को नहीं संभाल पाते, नाक के मारे दम है। तब इन्हीं के दोनों आँग नौ-नौ बाहु निकले रहते थे, और तब भी ज्ञय का रोग न होता था।”

विध्याप्रसाद को अपना एम० ए० तुच्छ जान पड़ने लगा, उन्होंने लल्लू को हुँकार लगायी।

“अब सुनता है, दवाई ला ले।”

“कैसी दवाई चान्चो?”

ललाइन उधर से बिजली की तरह तड़पकर बोली “काहे की दवाई, गल को तंग करने के लिए मैं ही हूँ।”

“पर तब भी कैसी दवाई।”

“जुकाम की और क्या रे।”

“वाह अम्मा, वह जुकाम थोड़े ही था; वह तो मैंने नाक में पानी चढ़ा लिया था।”

राय आनंदकृष्ण

माधवी और कर्णिकार

मैं उन दिनों शाकुंतल पढ़ रहा था—“कः सहकारमंतरेण ज्योत्स्नमल्लिकां सहेत, समुद्रमंतरेण महानदी कुत्र वा अवतरति ।” सामने खिड़की के नीचे दूर तक एक पुराने मकान का खँडहर फैला था जिसके ईंट-पत्थर हटा दिये गये थे, केवल एक ढूह बच रहा था । प्रकृति को केवल ईंट-चूने का साम्राज्य नहीं भाता । उसे मिट्टी से प्रेम है और वह ईंट की दीवाल में भी मिट्टी खोजती है । उस मिट्टी के ढेर में एक और पीपल, इमली और नीम, दूसरी ओर पारिजात, बेल इन सबने बीमों बरस से अपना साम्राज्य जमा रक्खा था ।

बीच में एक दिन मैंने देखा—उस दिन का मुझे भलीभाँति स्मरण है, एक कर्णिकार निकला है । उसके शैशव-काल में ही लोगों ने उसका रूप सराहा और भविष्य में सुंदर फूल पाने की आशा की ।

“कः सहकारमंतरेण.....”

आपाढ़ में अनजान बूटियों के बीच माधवी ने भी जन्म लिया । वर्षा की फुहार और ठंडी बयार पाकर वह विकसित होती गयी ।

कर्णिकार ने उसे पता नहीं देखा या नहीं, पर मैं, गजीव लोचन बी० ए०, अपनी खिड़की पर बैठे एम० ए० के नोट तैयार करता और दोनों को देखता । परंतु मैं भूलता हूँ—कर्णिकार ने उसे पहले ही देख लिया था क्योंकि जब ठंडी हवा चलती तब अपनी लंबी डालें हिलाकर आमोद मनाता ।

उन्हीं दिनों कहीं बाहर जाना पड़ा । महीने भर से ऊपर बाहर रहने के बाद लौटकर देखा—माधवी विस्तृत हो गयी ; कर्णिकार नये पत्तों से ढँप गया है । कर्णिकार बड़ी आकुलता के साथ अपनी डालें हिला-हिलाकर माधवी को बुलाता और माधवी जैसे अपना सिर हिला-हिलाकर कर्णिकार को हताश करती हुई कहती—‘नहीं, नहीं ।’ तब कर्णिकार शिथिल होकर अपने सारे शरीर को झुका देता; उसकी सूखी पत्तियाँ गिर-गिरकर आँसू के समान बिखर जाती—ठीक उसी प्रकार जैसे शाकुंतला के वियोग में आश्रम-लताएँ अपने सूखे पत्ते-रूपी आँसू गिरातीं—और उसे विकल देखकर माधवी भी अपना मुँह फिरा लेती । कर्णिकार अपने में सोचता—‘कः सहकारमंतरेण.....’

माधवी सहकार को ही खोजती है। वह निश्चय ठान लेता कि अब माधवी की ओर आँख उठाकर देखूँगा भी नहीं—जाने दो उसे। मैं अपने में ही क्या कम हूँ किसी से ?

शरद भीत चुकी थी, मुझे कालेज जाने के लिए अब छुट्टी की आवश्यकता न पड़ती। मैं गिड़की खोलते ही देखता, सब कुछ सूना-सूना-सा है। जान पड़ता है माधवी और कर्णिकार में कुछ कटा सुनी हो गयी है। पर माधवी को तो कभी कुछ कहते सुना ही नहीं। 'चलो कुछ होगा,' मैं निश्चय कग्गा और विगत कल के लिये हुए नोट दूम्मी कापी पर उतारने लगता।

छिछे बगमदे में भाई साहब अपने मित्रों में बैठकर बातें करते, 'इंट इकट्ठी कर ली है, सिमेंट और लोहा मिल जाय तो सामने के खंडहर पर एक छोटा प्लैंट बना लूँ ; आजकल अच्छे किराये पर उठ जायगा।'

मेरी लेखनी वहीं अटक जाती जैसे तेजी से मीढ़ी उतरते समय रेलिंग में कपड़ा फँस जाने पर कोई रुक जाय। और, तब मैं अपने मन में उठती हुई अनेक उलझनों को फँसे हुए कपड़े की भाँति सुलझाने बैठ जाता। कालेज की नोट बुक सामने खुली पड़ी रह जाती। मैं एक बार कर्णिकार की ओर देखता और फिर भाई साहब के स्वभाव पर विचार करता.....फिर वह सोचकर संतोष कर लेता कि आजकल किसे सिमेंट मिला है।

उधर दिन छोटें होने लगे थे। उठते उठते ही कालेज जाने का समय हो जाता। कालेज से लौटकर मैं अपने अध्ययन में प्रवृत्त होता और रात दो-दो, तीन-तीन तक बेंटा लिखा करता अथवा पहले लिखे हुए निबंधों को दुहराया करता। परीक्षा की तैयारी में मैं कर्णिकार, माधवी, भाई साहब, सिमेंट, लोहा, मकान सबको भूल चुका था। टंडी हवा से बचाने के लिए भाई साहब पहले से ही व्यवस्था कर रखते—मेरे टेबुल के बगल की गिड़की शाम को अपने सामने बंद कर देते, नहीं मैं अलटड़ आदमी, अपने स्वास्थ्य का ख्याल न कर कहीं गिड़की खुली छोड़ पड़ता रहूँ और दूसरे दिन न्यूमोनिया, ब्रोंकाइटिस जैसी किसी भीमारी का शिकार बनूँ !

एक राबवार को दोपहर के समय खा पीकर मैं अपना माताहिक परायण पूरा करने के निमित्त पाठ्य पुस्तकें लेकर बैठा। शकुंतला के पृष्ठ उलटते-उलटते दृष्टि जाकर जम गयी—“कः सहकार.....”

‘ओह कर्णिकार’, मैंने सोचा, ‘तेरी कितने दिनों तक सुध भी न ली भाई मैंने।’

तुरंत खिड़की खोली। खिलखिलाती धूप आकर मेरे पैरों पर पड़ गयी। सामने सुंदर कर्णिकार हवा में लहरा रहा था। माधवी उससे लपटी हुई।

‘बधाई भैया,’ मेरे मुँह से उसी प्रकार निकल पड़ा जैसे मैं अपने किसी सहायी से कह रहा होऊँ। मिठाई कब खिलाओगे ?

माधवी और कर्णिकार

और अपने प्रश्न पर मैं स्वयं चौंक उठा। कर्णिकार और मिठाई ! देखा, कर्णिकार फूलों से लदा था, वह माधवी को पाकर भूम रहा था।

मैंने अपने को मन में धिक्कारते हुए कहा—इतने दिनों तक ऐसे प्रिय को भूला रहा। उसकी ओर नजर उठाकर भी न देखा। पर उसी समय अपना बचाव भी भीतर से ओंठों पर आ गया—तो मुझे उससे क्या ? मेरे न देखते भी वह तो बढ़ता ही जायगा, माधवी के साथ मिलकर नाचना क्या मेरे न देखने से उसने एक क्षण भी बंद किया ?

वादी ने व्यंग के टोन में उत्तर दिया, अच्छा। सारा संसार तेरे लिए रुका रहे। यदि तुझे उसकी ओर देखना हो तो प्रकृति के इस वरद पुत्र की ओर देख ले। जहाँ तो जैसे तुझे एम० ए० के नोट्स बचाने से छुट्टी नहीं है वैसे उसे भी फलने, फूलने, निराला पल्लवित दोनों से नहीं।

हाँ, कर्णिकार इस माल फूला था। सचमुच उसके लिए यह उक्ति सर्वथा समुचित है कि फूल के बोझ से वह दब जाता है।

पर मुझे इस सबके लिए छुट्टी कहाँ। एक पक्ष के बाद एम० ए० की परीक्षा देनी है, मैं परीक्षा शुरू होने के पहले ही भली भाँति कल्पना करने लगा कि परीक्षा समाप्त हो जाने के बाद अपनी पढ़ाई, लिखाई, नोट्स, व्यस्तता जिसमें गाना पीना सब भूल जाता है, इन सबको कितनी तुच्छ दृष्टि से देखूँगा। एकाएक न जाने किस अनजान शक्ति ने इन विचारों की ओर से बलात् मेरा ध्यान हटाकर उन्हीं अक्षरों की लंबी-लंबी पॉतों पर जमा दिया। बकरी के बच्चे दूध पीकर इधर-उधर क्रीड़ा करते हैं, पर जग-मा खुटका होते ही माँ के थन से लिपट जाते हैं।

अकाल वृष्टि के ओलों से मार्च की गर्मी और कर्णिकार के फूल गायब हो गये। बड़े भाई साहब ने मुझसे कहा 'चलो जी, ठंडक हो गयी। परीक्षा देकर दोपहरी में लौटते समय तुम्हें धूप न लगेगी।'

मैं विनय से नत हो जाता, कुछ उत्तर न देता। केवल कर्णिकार की ओर देखता तो मुझे अपनी छोटी बहन के भुलसे मुग का स्पर्श आ जाता जिसके कपड़ों ने दीवाली पर दीपक रखते समय आग पकड़ लिया था। कर्णिकार का रूप त्रिलकुल उसी जैसा हो गया था।

उस दिन तीसरा पर्चा बहुत अच्छा हुआ। भाई साहब ने आते ही अभ्यासवश पूछा—'कैसा परचा रहा ?'

'आपके आशीर्वाद से यदि दो-एक ऐसे ही अच्छे बन गये तो'...हृष के मारे मेरा गला रुँध रहा था, 'तो प्रथम आना निश्चित है।'

राय आनंदकृष्ण

‘आज अच्छा ही अच्छा सुनने को मिल रहा है, आज बड़े सौभाग्य का दिन है।’ मेरी ओर उन्होंने इस दृष्टि से देखा जैसे मैं अन्य शुभ बातों के लिए पूछूँ और तब वे उन्हें सुनायें। पर अधिक रुकना उनके लिए संभव न था। उन्होंने कहा, ‘आज इतनी प्रतीक्षा के बाद सिमेंट और लोहे का परमिट आ गया और मैंने काम लगवा दिया है।’

मैंने उत्साह से थिड़की खोलकर नीचे देखा तो पाया, मजदूरों का एक झुंड पेड़ों को काटने में लगा है। इमली कट चुकी है, नीम की बारी है। और कर्मिकार, वह माधवी से लिपटा हुआ भूलुंठित पड़ा है।

मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा, ‘कर्मिकार.....माधवी’ - -

पीछे भाई साहब के ही मुँह से सुना कि मजदूरों ने बेल और पीपल काटने में इनकार कर दिया। फलस्वरूप उन्हें नये प्रलैट की लम्बाई-चौड़ाई में थोड़ी कमी कर देनी पड़ी। किंतु कर्मिकार—माधवी—?

न माँगो

(१)

तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो !

तुम नवल उषा की प्रथम पुलक की सिहरन !

तुम स्वप्न-विचित्रित मुग्ध किरण की स्पंदन !

तुम सौरभ से श्लथ मलयज की मादकता !

तुम आशा की उच्छ्वसित मधुर कल-कृजन !

तुम क्या जानो गति का संवर्ष भयंकर—

जब अमर व्यथा से मग उठता है अंतर,

जब नयन उगलने लगते हैं अंधारे,

जब जल उठती है अवनि उबलता अंधर !

मध्याह्नकाल के मरु की मैं मृगतृष्णा,

प्रत्येक चरण पर मेरे शत-शत खँडहर !

अनिर्गम दृश्यों में ले जीवन की सुषमा

मेरा उजड़ा संसार न मुझसे माँगो !

तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो !

(२)

तुम रसमय बेसुध गान न मुझसे माँगो !

अपनी तरंग में खुलती हुई लजीली

कलिकाओं का लुविजाल लिये तुम रंगिनि !

उल्लास-धवल हिमहास लिये अधरों पर

तुम नृत्य-रता, तुम उत्सव-व्रता तरंगिनि !

तुम क्या जानो अपनी सीमा से उठकर

किस मौन क्षितिज से लहरें लेती टक्कर ?

किस अमफलता की व्यथा लिये प्राणों में

रह-रह कराह उठता है विस्तृत मांगर ?

मैं प्रलयकाल की भंभा का पागलपन,

प्रत्येक साँस मेरी विनाश का कंदन !

अधरों पर ले संगीत, नृत्य चरणों पर

मेरी भूली पहचान न मुझसे माँगो !

तुम रसमय बेसुध गान न मुझसे माँगो !

नरेशकुमार मेहता

उषस्

अभी भी कुछ दलकी-सी रात !
धरा की पलकों में हैं स्वप्न
मृदुल हो जाना कुछ इस कूल
तुम्हारे नील कुंतलों बीच
शुक का गोरा चंदन फूल,
वरुण बंदी है वेणी बीच
हँसी में बका कमल का प्रात !
अभी बैठी तारों के पंख
बिछाकर, मंदिर नौद की चील,
लग रहा मछुए का सगीत
गा रही जैसे नीली भील,
मेघ का गोपुर खोलो इंद्र !
धूप रथ लाये सारस पौल !
गस में मस्त पवन का वृषभ
बालियों की गायों के साथ
गोप के डर से मेड़ों पार
भागता बिता यहाँ मधुरात,
बालियाँ झुक झुक पड़तीं देवि !
छुपाने चुंबन की बरसात !
उतरतीं किरणें पंख पसार
शिखर से शाख, शाख से डाल,
मुनी पीपल पर पद मंजीर
हँस पड़ी नील कमल की नाल,
अधर डूबे ये अधरों बीच
रही आधी मधुकर की बात !
किरण अरुणों के खुर, तन
असुर रक्त से भीग गये हैं देवि !
सिंधु में घो लो तन के घाव
स्वस्थ हो लो दिन भर को देवि !
सुनयने ! एक चषक ही सोम
पुलक से भर देगा मधु गात !

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?

(१)

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत, और
लिखित को अलिखित पूछ मैं रहा हूँ यह ।
क्या मैं कर सकता हूँ अपना अतीत नष्ट ?
पूछ मैं रहा हूँ अपने ही से यों रह-रह !
किंतु तर्क मेरा मुझसे यों बोल उठा 'दे रे !
कर्म-बद्ध जन ऐसी पोच बात मत कह ;
संचितों की शृंखलाएँ कौन तोड़ सका है याँ ?
वे तो दृढ़तर होती जा रही हैं अदरह ।'

(२)

शापद बलिष्ठ तर्क ठीक ही रहा है कह ;
तर्क की अकाट्य बात कैसे टुकराऊँ मैं ?
किंतु इस विवश प्रारब्ध-बद्ध धारणा से,
हिय मैं संतोष कहो कैसे टुक पाऊँ मैं ?
मानव क्या इतना है विवश नितांत अहो ?
तब निज कृति का दायित्व क्यों उठाऊँ मैं ?
क्यों न निज धर्म-कर्म प्रेरणा, विवेक, ज्ञान,
संचितों की वेगवती धारा में बहाऊँ मैं ?

(३)

किंतु संचितों का पूर्व कर्ता है, कहो तो कौन ?
मैं हूँ ? तो हूँ फिर मैं क्यों विवश किन्वार-हीन ?
मैं ही हूँ जच अपने भाग्य का विधाता आदि,
तो क्यों कहते हो मैं हूँ रज्जु-बद्ध और दीन ?
मैंने सिरजी हैं निज संचितों की प्रेरणाएँ :
मैं ही कर दूँगा उन्हें क्षार-क्षार और क्षीण !
मैं ही यों हुआ हूँ जच स्वेच्छा से प्रवृत्ति-पीन,
तब क्यों न होऊँगा मैं स्वेच्छया निवृत्ति-लीन ?

(४)

हाँ ! हाँ ! आज कृत को अकृत करने की, और,
लिखित को अलिखित करने की चाह है ;
किया है उच्छिष्ट जो प्रसून इन अधरों में,
उमके लिए ही इस जीवन में दाह है !
तुमसे प्रार्थी हूँ, अहो जीवन-आदर्श मेरे,
असंलग्नता की मेरे लिए नहीं राह है,
उनको उबार सकूँ जिनको डुबाया मैंने—
इतने गहरे कहीं जिगकी न शाह है ।

(५)

बल दो मरोड़ सकूँ भीवा निज प्यार की मैं,
बल दो कि नोच सकूँ नीड़ निज हिय का !
बल दो कि मैं न बनूँ पिय के पगों का शूल ;
निष्कण्टक बने पंथ मेरे प्राण-प्रिय का !!
पीतम बँधे हैं मेरे बंधन में, किंतु यह—
बंधन है अति अविचार मम जिय का ;
बंध-मुक्त होवे मेरे पीतम का मन-अलि,
और करे पान निज चयन-अमिय का !!

शमशेरबहादुर सिंह

सुमद्राकुमारी चौहान : एक अध्ययन

श्रीमती चौहान की रचनाओं में जो चीज सबसे अधिक प्रभाव मन पर डालती है, वह है उनका व्यक्तित्व और उनके व्यक्तित्व में छिपा हुआ लगातार संघर्ष। वह कोई महान कवि नहीं थीं, न महान कलाकार। राजनीति में भी उनका मत, सैद्धांतिक दृष्टि से, बहुत सुलभा हुआ कहा जाय, तो सही न होगा। वह राजनीतिज्ञ नहीं थीं। मगर इससे इनकार नहीं हो सकता कि उनका हृदय एक ऊँचे कलाकार का हृदय था और उनका व्यक्तित्व महान की कोटि में आता है। धीरे-धीरे उन्होंने सच्ची मनुष्यता के बहुत बड़े फैलाव को अपनी अनुभूति के अंदर समो लिया था। हम उनकी अंतिम रचनाओं के अंदर देखते हैं कि संसार उन्हें बच्चों और उनकी माँओं, और उन्हीं की समस्या से भरा दिखायी देता था; जिसकी हर रंगीनी और उदासी में उनकी इतनी दिलचस्पी थी,—जिसका हर दुख-दर्द उन्हें इस हद तक अपनी निजी कहानी-सा मालूम होता था,—हर कसो-नाकस के साथ संग और मेल-मिलाप में वह इस कदर मिटास पैदा कर देती थीं, कि कविता, कहानी, राजनीति, सुधार, आंदोलन और क्रांति उनको अपनी रोजाना जिंदगी के कतई बाहर जैसे नहीं लगते थे।

यह बात उनके व्यक्तित्व में कैसे पैदा हुई? यह तो स्वाभाविक ही है कि लोक-परिवार में यह माँ का रूप उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे लिया : पर उनके अंदर वह कौन-से रुझान काम कर रहे थे, जो उन्हें इस नये सौंदर्य से परिचित करा रहे थे, जिसकी मिटास में वह बरबस औरों को भी डुबा देती थीं? जीवन कैसा उनके एक पैमाने में ऐसा सागर की तरह हिलोरें लेने लगा? मैं उनके बारे में सोचता हूँ तो अक्सर यही सोचने लगता हूँ। क्योंकि, सर्फ उनका साहित्य—यानी उसका एक चुना हुआ हिस्सा तो—पुष्ट और श्रेष्ठ है; पर कोई सब तो ऐसा ऊँचा नहीं, और न उनकी कहानियाँ ही, सब। फिर इस सवाल का जवाब क्या है?

मुझे इसका जवाब—उनके साहित्य में से भी—यही मिलता है कि उन्होंने जीवन में लगातार संघर्ष किया है : खुलकर, मैदान में आकर ऐलानिया लड़ाई लड़ी है : उन्होंने अपनी जिंदगी औरों से मनवायी है, और फिर-फिर मनवायी हैं : जिस रास्ते को ठीक समझा है, उस पर निःशंक होकर कदम रखा है, और उसी में उत्साह और सुख अनुभव किया है और उनके पीछे-पीछे औरों ने भी। जरूर उन्होंने बहुत कुछ मेलता

रामशेरबहादुर सिंह

है, तब यह मिटास उनके हाथ लगी है।—और इसी संघर्ष में उन्हें अपनी सच्ची कला के भी दर्शन हुए हैं। इसी में जैसे उन्हें वह सुख मिल गया है जो आजादी और प्रेम की महान प्राप्ति और कला की ऊँची सिद्धियों में मिल सकता है।

२

यह संघर्ष उन्होंने क्योंकर अपनाया ?

सदृश संवेदन और प्रेम, और कविता की लय, और ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की तरंगें हृदय में बचपन से ही उठती आ रही थीं, एक संगीत-प्रेमी भक्त पिता के हृदय में। और ये तरंगें उसकी कल्पना को विकल रखती थीं। एक अनोखी और अद्भुत दुनिया उसे अपनी तरफ बुला रही थी। भक्ति, प्रेम और सेवा, तीनों ने अपने आदर्शों से उसके कोमल हृदय को बाँध लिया था।

यौवन में जगमग भाँकियों की धूम अभी शुरू ही हुई थी, और जीवन एक त्योहार बन ही रहा था कि उसके आभ्यन्तर का अर्थ ही एकाएक दूसरे रंग में रँग गया। देवता ही जैसे स्वयं बदल गये।...एक बहुत बड़ी स्वतंत्रता के लिए सत्य और अहिंसा की खुली हुई बाँहों ने पहली राष्ट्रीय क्रांति की और उनका आह्वान किया—कि, आओ, हम और ! सुभद्राकुमारी का पूरा व्यक्तित्व इसके लिए जैसे तैयार ही बैठा हो। (“यह स्वतंत्रता की चिंगारी अंतर्गतम से आती थी।”^१) और वह पति को साथ लेकर कर्मक्षेत्र में उतर पड़ीं।

उसके बाद !...संघर्ष चलता है। राजनीतिक-सामाजिक, और व्यक्तिगत। जीवन के प्रत्येक अंग में। पुराने और नये आधारों का संघर्ष। और समस्याएँ, मार्भिक रूप से उघड़कर, यथार्थ की दुनिया में सामने आती हैं। स्वप्न टूटते हैं ; आदर्श पहले से भी अधिक दृढ़ आधार ढूँढ़ते हैं। संघर्ष चलता है।

इन समस्याओं की भूमि क्या है ?

‘मुकुल’ को लीजिये। प्रेम की कड़ी आराधना—आराध्य देव के वास्तव रूप का दर्शन—फिर क्रूर व्यवधान—वियोग की तपन (और शिशिर समीर को संदेसा)—ईर्ष्या का दाह—व्यक्ति की भावना का संपूर्ण आत्म-समर्पण—संयोग की अपूर्ण तृप्ति—शांति और सुख की लोभ (—वह “बचपन की मस्त खुशी !”)—और उसकी प्राप्ति : अपनी संतान की निर्बंध, निर्द्वंद्व आत्मीयता में। जीवन में एक नया माधुर्य।^२

१ ‘भाँसी की रानी।’

२—देखिये यथाक्रम : ‘कलह कारण’, ‘भ्रम’, ‘जाने दे’, ‘समर्पण’, ‘शिशिर समीर’, ‘मानिनि राचे’, ‘स्मृतियाँ’, ‘ठुकरा दो या प्यार करो’, ‘पारितोषक का मूल्य’ और ‘मेरा नया बचपन’।

और अब जीवन को एक नवीन दिशा मिलती है, और लगता है कि अपना परिवार तो बहुत बड़ा और दूर तक फैला हुआ है। अपनी समस्या पूरे देश की समस्या के साथ बँधी हुई है। उसकी मुक्ति में ही अपनी भी निजी मुक्ति है। कितनी चिंताओं का समाधान इस भाव में है ! देश-प्रेम का तो राग ही निराला है। व्यक्तिगत प्रेम की सीमा में यह बात कहाँ थी।^१ कितना खुला हुआ और सीधा रास्ता मिल गया है !

इसी दिशा में बढ़ते हुए 'बिखरे मोती'^२ और 'उन्मादिनी'^३ का कथाकार कवि अपने चारों ओर देखता है—अंधी परंपराओं के बंधन, चारों ओर सड़े-गले रस्म-गिवाजों के गलीज घेरे, जिनमें क्रूर पाखंड की उँगलियाँ उठती हैं ; एक दमन और घुटनवाला समाज, जो खुली तंदुरुस्त जिंदगी की साँस लेना जानता ही नहीं।

इसके मुकाबले के लिए यह सत्याग्रही और साहित्यकार अपना मोर्चा बनाता है। उत्साही यौवन में उसका साथी "पुरुषार्थ और ज्ञान का उदय" है जो "मोहनेवाला है।" एक सपना जो कुर्बानियों की ओट में पूरा हो रहा है। वह एक जीती-जागती, सुलगती, बेचैन सच्चाई, जो कि अपने अंतर की करोँच है। अपने जीवन में और समाज में इस सच्चाई को बलिदानों के मोर्चे पर जीतकर हासिल करना होगा। और इसके लिए संघर्ष,...

इसी में (और यही) कविता भी है, कहानी भी। कला की सारी मौंदर्य-वस्तु। इसी में प्रेम और भक्ति की वह सच्ची भाँकियाँ भी हैं, जिनके लिए कि यौवन को उमंगें मिलीं, और वसंत और राखी और विजया-दशमी के त्यौहार और मातृ-मंदिर में उत्सर्ग का आनंद और उल्लास। यह उत्ताल आत्मा का समुद्र हमारे ही बीच लहरें ले रहा है ; सूख नहीं गया है।...हाँ, कर्म के आंदोलन द्वारा हमें अपने सारे बंधन ढीले कर लेने हैं ; पाप, दैन्य और अज्ञान को जीवन के पथ से हटा देना है। ताकि हम स्वस्थ मानवों की उस दुनिया को हासिल कर सकें जहाँ सब समान रूप से अपने अधिकारों की सुख-सुविधा का उपभोग करते हैं, जहाँ हमारी अपनी आदर्श पार्लामेंट है, अपना निर्द्वंद्व राज। और इसके लिए संघर्ष, निरंतर संघर्ष।...

३

हम संघर्ष ने उनके शरीर को कमजोर कर दिया था ; थका दिया था। पर सुभद्रा-जी ने अपनी समस्याएँ सुलझा ली थीं। सास-बहू के आपसी संबंध ; पति-पत्नी की जिम्मे-

१—'पारितोषक का मूल्य'

२—'मँझली रानी', 'दृष्टिकोण'

३—'वेश्या की लड़की'

४—'राखी', 'विजया-दशमी', 'मातृ-मंदिर में', 'बिदाई', 'पुरस्कार कैसा'

रामशरणबहादुर सिंह

दारियों के और दूसरे भावुकता के गहरे संबंध; पर्दा और समाज के दूसरे छोटे-बड़े अर्थहीन बंधन :—इन सब की जमीन अपने जीवन में उन्होंने टोह ली थी। उनकी स्वयं और स्वतंत्र भावुकता ने यथार्थ के बहुत से भ्रम पहचान लिये थे। हर चुनौती का जवाब उनके पास था। और वह जवाब था उनके अंतःकरण और सच्चाई की हठ का। उनकी कविता और कहानी, विशेषकर 'सीधे सादे चित्र' में उन सुलभावों का बहुतांश मसाला मौजूद है।

उनके साहित्यकार का आंतरिक जीवन यही है।

भावुकता और आदर्शवाद की बाढ़ और अलौकिक प्रेम के सपने जब ठोस वास्तविकता से टकराकर बिलखने लगे, तब एक और देश सेवा के आदर्श ने (जिसका दामन शुरू से ही हाथ में था), और दूसरी ओर अपने परिवार और बच्चों की दुनिया ने उन्हें वह नये जीवन का प्रकाश दिखाया, जिसको उनका अधीर व्यक्तित्व अपने विकास के लिए खोज रहा था। अपने बचपन की उमंग और शांतिपूर्ण आदर्श का लोक उन्हें यहाँ मिल गया—और अब वह पहले से भी विस्तृत और अर्थपूर्ण था।

'भाँसी की रानी' का आत्म-बलिदान और उसकी आत्मिक विजय सुभद्राजी के लिए एक नयी कहानी का अध्याय खोलती हैं—सामाजिक जीवन में आत्मोत्सर्ग का। 'नया बचपन' और 'घिटिया का परिचय' इसी नये जीवन की घरेलू भूमिका है। संघर्ष और प्रेम की दुनिया में भाई जो जेल जाता है, बहन का दुख दूर करने के लिए, उसका अब खास महत्व हो जाता है। वह बाहर के संघर्ष में एक साथी का आदर्श प्रतीक है। राखी एक चुनौती हो जाती है; जेल कृष्ण-मंदिर; और माँ भारती का मंदिर स्वतंत्रता की देवी का वह पुण्य स्थान, जहाँ देश की सारी जनता की, सभी दीन-दुखियों की सभी मुरादे पूरी हो जाती हैं—बिलुढ़े हुआओं के गले मिलने से लेकर उनकी पार्लामेंट बनने तक। उन्हें अपना स्वराज मिल जाता है। अपने बच्चों की दुनिया में नव जीवन मिला, और माँ की भूमिका में, देश-सेवा के व्रत में, पूर्ण आत्मिक सुख।

अब हर तरफ सच्ची आज़ादी की राहें खुल गयी थीं। अब सुभद्राजी उस कर्म-पथ पर आकर निश्चित हो गयीं, जहाँ वस्तुतः उनको कोई दुःख आकर नहीं छू सकता था; जहाँ वह दूसरों के दुःख से दर्द महसूस करती थीं, और उनके लिए बेचैन भी होती थीं, लेकिन उन सबों को वे अपने उसी उल्लास और व्यापक भाईचारे और इंसानी आज़ादी के संघर्ष-लोक में खींच लाना चाहती थीं, जिसमें कि वह स्वयं मगन थीं। ("मैं जिधर निकल जाती हूँ, मधुमास उतर आता है!") वह जिधर जाती है, आनंद और शांति की कलियाँ चिटकाती जाती हैं।

पुरानी गुथियाँ कबकी सब पुरानी कहानी हो चुकी हैं। जीवन में एक सुंदर तीर्थ की-सी शांति और चहल-पहल आ गयी है। 'एक भारतीय आत्मा' ने क्या सही मह-

सूख किया है कि “सुभद्राजी का आज चल बसना प्रकृति के पृष्ठ पर ऐसा लगता है मानों नर्मदा की धारा को कोई महाकोशल के आँचलों में से चुरा ले गया हो !...” उस धारा में वह सब भेद-भाव, वह सब विषमताएँ कहाँ थीं, जिनका कि हमारा देश आज रंगस्थल बना हुआ है ? इस घुली-मिली एक, सच्ची मनुष्यता के धर्म-पालन में अगर कभी कोई अड़चन आती थी, तो वह अपनी जगह पर अड़ जाती थी, और उसके लिए एक ‘सविनय असहयोग आंदोलन’-सा खड़ा कर देती थी। वरना उनके व्यक्तित्व का अर्थ ही क्या था।^१

१ “उनकी अरथी के साथ बहुत-से मुसलमान भी थे। पनागर में हिंदू-मुसलमानों का दंगा हुआ था। कुछ मुसलमान मारे गये। यह वहाँ के मुसलमानी मुहल्ले में जाकर उनके घरों में बैठ आयी थी और उनकी स्त्रियों के करुण रुदन के बीच अपने भी आँसू बहा आयी थी।

“रशीदुल्ला ने कराची में एक पाकिस्तानी अखबार में पढ़ा कि इंडिया की एक महान स्त्री कवि का देहांत हो गया। आगे सुभद्राजी का नाम पढ़ा। वह रो पड़ा।

“रशीदुल्ला जबलपुर का रहनेवाला था। वह सुभद्रा के बच्चों के साथ पढ़ता था। एक दिन हमारे घर ग्रामोफोन के रिकार्ड माँगने आया। उसका भाई बीमार था। उसे खास रिकार्ड के गाने पसंद थे। उसका जी बहलाने के लिए उसे चाहिए थे। वे रिकार्ड हमारे यहाँ थे।

“जब वह आया, सुभद्राजी जाने किस उलझन में थीं। जो पास में बैठा था, उसने कह दिया बिना तलाश किये कि अभी वे रिकार्ड नहीं हैं। बेचारा वापिस चला गया। सुभद्राजी को उसका इस प्रकार लौट जाना बुरा लगा। फुरसत होते ही उन्होंने वे रिकार्ड ढुँढ़वाये और मोटर लेकर चल पड़ीं रशीदुल्ला का मकान ढूँढ़ने। केवल नाम मालूम था, पता नहीं जानती थीं। कई मुसलमानी मुहल्लों में फिरीं। आखिर मकान मिल गया। रशीदुल्ला को रिकार्ड दिये और माफ़ी माँगी।

“तबसे रशीदुल्ला उन्हें माँ कहता है।

“उस दिन बारह फरवरी की तो बात है। गांधीजी की पवित्र भस्म तिलवारा घाट पर नर्मदा में सिरायी गयी। वह स्त्रियों के लिए लड़ पड़ी थीं कि उन बेचारियों को भी जो नौ मील पैदल चलकर आयी थीं, जहाँ भस्म का कलश रखा गया था वहाँ तक जाने दिया जावे।

“अधिकारियों ने कहा, यह नहीं हो सकता। उसने कहा, यही होगा। अंत में वही हुआ। सभी स्त्रियों की पहुँच वहाँ तक हो गयी—यहाँ तक कि ‘भिलारिन’ भी बापू की पवित्र भस्म के दर्शन कर सकीं और उस पर चढ़ाये फूल तक प्राप्त कर सकीं !”

—श्री लक्ष्मणसिंह चौहान

(‘प्रहरी’, जबलपुर, के सुभद्राकुमारी विशेषांक में)

शमशेरबहादुर सिंह

इस संघर्ष का वास्तविक मैद्दांतिक रूप भी उन पर अब ज्यादा साफ होता जा रहा था; यद्यपि वह अब भी उलझा ही हुआ था। (इसकी आलोचना में अंत में करेंगे, और देखेंगे कि उसका उनकी काव्य-प्रतिभा के विकास पर क्या असर पड़ा।) वह शायद इस बात की कायल नहीं थी कि हमारी पूँजीवादी दुनिया आज सीधी दो तककों में बंट गयी है। शायद उनको यह विश्वास पूरी तरह नहीं हुआ था कि आज अमीर-गरीब और ऊँच-नीच का भेद और समाज की सारी विपमताएँ अकेले जन-सेवा और सुधार के संघर्षों से ही नहीं मिटायी जा सकती। जो हो, कर्म-क्षेत्र में स्वयं उन्होंने सदा अपने को दलितों, दीन-दुखियों, यतीमों और बेकर्मों के लिए ही लड़ते पाया। और उनके मुकाबले में कुछ दूसरी ही परंपरा की शक्तियाँ थीं, जो अपने आपको धर्म, कानून, पूँजी और समाज का इजारेदार समझती थीं, जो अपने आराम और सुविधा को गरीबों की मुसीबतों की पुकारों से, अलग, दूर, ऊँचाई पर रखती थीं।

४

यह सही है कि उन्होंने सच्ची साहित्य-कला के लिए जमीन तैयार की, उसमें कला के सुंदर बीज खिलाये, जिनमें कुछ तो अपनी जगह पर बड़े अनूठे थे। मगर वह अपने साहित्य की साधना, जैसी कि होनी चाहिये थे, न कर सकीं। कुछ तो उनके कांग्रेसी जीवन के उखड़ेपन ने इसकी निश्चित सुविधा उन्हें कभी न दी, और कुछ यह हुआ कि उनके जीवन-संघर्ष ने ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए और दूसरे रास्ते निकाल लिये।

हम देखते हैं कि वह अपने पहले ही काव्य-संग्रह 'मुकुल' की भूमिका (नवंबर, सन् २०) में कहती हैं कि 'जब कभी कविता का नाम सुनती हूँ, मालूम होता है जैसे दूर से आनेवाली कोई टूटती हुई रागिनी सुन रही हूँ, जैसे कोई भूली हुई बात याद कर रही हूँ।' इसके चार-पाँच साल बाद उनकी तेरह कविताएँ 'विधारा' में और संग्रहीत हुईं। लगभग उसी के साथ-साथ 'उन्मादिनी' नाम से उनका एक संग्रह भी निकला, जिसमें कथा-वस्तु पहले से अधिक गंभीर और भूमिका भी विस्तृत थी, पर टेकनीक कमजोर। इधर कुछ फुर्सत पाकर उन्होंने कहानी की तरफ फिर ध्यान दिया था, और खास तौर से स्केच के ढंग में कुछ चीजें अच्छी लिखी थीं, जो १९४६ में 'सीधे-सादे चित्र' में संग्रहीत हुईं।

सुभद्राजी के साहित्य में शुरू की भावनाओं में आवेग और रसज्ञावन, और बाद को लगभग मौन-सा; और फिर इधर कुछ साहित्यिक तत्परता—यह कम कुछ-कुछ उसी नक्शे पर है जो हम सन् २० से लेकर देश की ऐतिहासिक धारा में देखते हैं : देश के अंग-अंग को फड़काती हुई राष्ट्रीय आंदोलनों की पहली उमंग और उत्साह-भरी लहर— सन् २० की और सन् ३० की भी ; फिर राजनीतिक जीवन में दील और हतोत्साह का

दौर; और दूसरे महायुद्ध से फिर देशव्यापी आंदोलनों की विजय के फल-स्वरूप स्वतंत्रता के दिनों का नजदीक आना, और आखिरकार, १५ अगस्त ।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि 'मुकुल' सन् ३० में उस युग का लगभग अंतिम महत्त्वपूर्ण काव्य-संग्रह है जिसे द्विवेदी-युग कहा जाता है । इसके बाद हिंदी कविता का जो जमाना आता है, उसका मिजाज और उसकी माँगें सुभद्राजी के त्रिलकुल विरुद्ध थीं । व्यक्ति की असफलता और निराशा का गीत वे गा सकती थीं । ('मनुहार', 'करुण कहानी'—त्रिधारा में), पर यह उनके स्वभाव की मर्यादा के विरुद्ध था ।

मैंने हँसना सीखा है,

मैं नहीं जानती रोना ।

('त्रिधारा')

अपने निजी अभावों को वह मौन ही सहन करती थीं ।

'है प्रफुल्लता के परदे में, भीषण-भीषण दाह ।'

(त्रिधारा, पृष्ठ ६४)

कवि का आदर्शवाद धीरे-धीरे उसके होंठ मिल देता है ।

५

सुभद्राजी अपने साथ के और कवियों से कहीं अधिक लोक-प्रिय हुई हैं । इसका कारण है उनकी सहज आत्मीयता और लोक-भावनाओं का गहरा अपनाव । उनका आदर्शवाद भी मुख्यतया राष्ट्रीय हलचलों से बँधा हुआ रहा है । इसलिए, उनकी तमाम रचनाओं में एक जागरण-सा है । उनमें से कई आज भी इतनी ताज़ा लगती हैं कि हमें सहज ही भूलती नहीं । यही नहीं, बल्कि उनके छोटे मोटे दोषों को हम कोई महत्व नहीं देते । (कहानियों में भी 'तीन बच्चे', 'पवित्र ईर्ष्या' और 'त्रिआहा' याद रखने की चीज़ें हैं ।)

उनकी लोकप्रियता की तह में एक और चीज़ भी है । वह यह कि खड़ी बोली के सजीव रूप की जितनी रक्षा इन्होंने अपनी रचनाओं में की है उतनी शायद नरेंद्र और कुल्लु हृद तक बचन से पहले किसी ने नहीं की । हाँ, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरण सिंह ने इसका बराबर ध्यान रखा, मगर उनके यहाँ या तो बनावट अधिक आ जाती है या तकल्लुफ़ ; और भाषा उतनी खुल नहीं पाती । भाषा के प्राण बोली में हैं । सजीव भाषा के लिए महत्व शब्दों का नहीं, वाक्यों और वाक्यांशों के स्वभाविक लहजे का है, जो कि भाव का वाहक होता है । अकेले शब्द व्यंजना या वामत्कार पैदा कर सकते हैं, प्राणों की भंकार नहीं—जब तक कि वे बोली के अंदाज़ में बँधे हुए नहीं होते ।

हम सुभद्राजी के प्रिय छंदों पर अगर ध्यान दें, तो देखेंगे कि वह "जनता के बीच की प्रचलित लय" लिये हुए हैं । इस प्रचलित लय को लावनी के दंग पर श्रीधर पाठक ने अपने 'एकांतवासी योगी' में अपनाया ; जिसका जिक्र पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में किया है, इस उद्धरण के साथ:

शमशेरबहादुर सिंह

आज रात इससे परदेशी चल कीजे विश्राम यहाँ

जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे, ग्रहण करो, संकोच नहीं।

यही वह छंद है, जिसका प्रयोग 'भाँसी की रानी', 'मेरा नया बचपन', 'राखी' आदि सुपरिचित कविताओं में हुआ है। यही आल्हा का छंद है। यह लगभग वही है जिसमें नजीर ने अपना प्रसिद्ध 'वंजारानामा' लिखा। इसी छंद में फिर बचन ने अपनी मधुशाला लिखी, जो लोकप्रिय हुई और नरेंद्र शर्मा ने 'यकुम मई।' यहाँ यह भी रेखांकित होना चाहिये कि खड़ी बोली में लोक कथात्मक गीत (बैलेड) की शैली 'भाँसी की रानी' ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें मध्यवर्गीय कला-परंपरा और लोक-कला दोनों मिलकर एक प्राण हो सके हैं। एकमात्र दूसरा सुंदर प्रयास नरेंद्र का 'यकुम मई' है।

सुभद्राजी ने और भी छंद लिये हैं, जिनमें जन-रुचि की ध्वनि हमारे कानों में पड़ती है : जाने-अनजाने जैसे कुछ प्रचलित तर्जों का-सा आधार उन्होंने ले लिया हो। जैसे 'राखी की चुनौती', पूरी कविता।—

बहन आज फूली समाती न मन में।

तड़ित आज फूली समाती न मन में।

पया है न फूली समाती गगन में।

लता आज फूली समाती न मन में।...

ये आयी है राखी, सुहायी है पूनो,

बधाई उन्हें जिनको भाई मिले हैं।...

इत्यादि।

एक कविता में तो उन्होंने उर्दू बंद के साथ ठेठ गीत की कड़ियाँ मिलायी हैं और बड़े सुंदर ढंग से उन्हें स्वागत-गान के उपयुक्त बनाया है :

कर्म के योगी, शक्ति-प्रयोगी

देश-भविष्य सुधारियेगा।

हाँ, वीर वेश में, दीन देश के

जीवन-प्राण पधारियेगा।

तुम्हारा कर्म चढ़ाने को हमें डोर हुआ।

तुम्हारी बातों से दिल में हमारे जोर हुआ।

तुम्हें कुचलने को दुश्मन का जी कठोर हुआ।

तुम्हारे नाम का हर ओर आज शोर हुआ।

हाँ, पर-उपकारी, राष्ट्र-विहारी,

कर्म का मर्म सिखाइयेगा।

—स्वागत गीत ('मुकुल')

सुभद्राकुमारी चौहान : एक अध्ययन

आम तौर से उनकी पद-रचना बिलकुल ऐसी होती है जैसे एकाएक मुँह से बोल निकल पड़ते हैं। इसीलिए हम तत्क्षण उन्हें ग्रहण कर लेते हैं :

‘अजी, बोल तो लिया करो तुम

चाहे मुझ पर प्यार न हो।’

‘जा...कहते सकती जवान

किस मुँह से तुमसे कहूँ, रहो।’

वह अपनी कविताओं को प्रारंभ करने में किसी प्रकार की भूमिका नहीं बाँधती, एकदम शुरू कर देती हैं। इसीलिए उनमें कुछ नाटक की-सी प्रत्यक्षता आ जाती है—

‘सिंहासन हिल उठे...’

(भाँसी की रानी)

‘तू गरजा, गरज भयंकर थी’

(विजयी मयूर)

‘बहुत दिनों तक हुई परीक्षा’

(प्रियतम से)

अपने कविता कानन की मैं हूँ कोयल मतवाली’

(मेरी प्याली)

अस्ल में कला-रूप का प्रश्न सुभद्राजी के सामने कभी नहीं उठा। कविता उनके लिए भावों की विदग्धता भर थी। उदात्त भावों की एक तरंग। अन्यथा सीधा-सादा उपयोगी कर्मशील जीवन का प्रवाह ही वास्तविक कविता है। उसकी अभिव्यक्ति ही क्या—वह तो प्रत्यक्ष अभिव्यक्त है। उसका कला-रूप अपने चारों ओर देख लो। अंत में ऐसा ही उनका दृष्टि-कोण हो गया था।

तब क्या वह जीवन कलाकार से उसकी कला में अपनी अभिव्यक्ति की माँग नहीं करता ?

दरअस्ल इस दृष्टिकोण में कला-पक्ष की एकदम उपेक्षा है, और उसके अंदर छिपी हुई है कलाकार को एक चुनौती ; वस्तुतः यह उसकी हार है और दार्शनिक की विजय। यह दृष्टिकोण कलाकार और दार्शनिक दोनों का विरोध लिये हुए है, उनकी सच्ची एकता नहीं, जिसकी शक्ति वह कला की अभिव्यक्ति में प्रकट करता। यह भी एक कारण था, जिसने उनकी कला-पक्ष की साधना पूरी न होने दी, और जब जीवन में भावनाओं

शमशेरबहादुर सिंह

का ज्वार मंद होकर समतल पर आ गया और ऊँची सुगर तरंगें केवल मंथर मौन प्रवाह बन गयीं, तब—सुभद्राजी की काव्य-रचना भी बंद हो गयी। अगर ऐसा न होता, तो बाद की अनेक राष्ट्रीय और सामाजिक हलचलों पर भी वे बराबर उसी तरह लिखती जानीं, जैसे शुरू में उन्होंने लिखा। इसीलिए वह समय भी आया जब आखिर कलाकार ने आदर्शवादी सत्याग्रही के साथ समझौता कर लिया।

मगर इससे भी वह विरोध हल न हो सका जो अनजाने रूप से उनके पूरे संघर्ष के पीछे छिपा हुआ है। देश-सेविका का आदर्शवाद (चाहे जिन मजबूरियों के कारण) कलाकार की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाता है। मानों वे दो थे, एक को छोड़ना जरूरी था।

यह अंतर्विरोध, और संघर्ष का यह रूप उस आदर्शवाद में शुरू से ही निहित है, जिसको लेकर सत्याग्रही यह समझता है कि चूँकि बुद्धिवादी मध्यवर्ग ही राष्ट्रीय आंदोलन का अग्रगण्य रहा है, इसलिए वही जन-आंदोलन भी शक्ति है; और इसीलिए उसका विश्वास है कि उसी के सुधारवादी संघर्ष से आज जन-जीवन की विषमताएँ और समाज और व्यक्ति के अंतर्विरोधों की समस्या सुलभ जायगी।

ऐसे संघर्षकर्ताओं को एक शहीद होनेवाले का-सा एकाकी अलौकिक सुख प्राप्त होता है, निश्चय; एक मुक्ति-गी : उसके उदार, महती भावुक उत्सर्ग को हम कविता की तरह हृदय से लगाते और प्यार करते हैं और उसकी गरिमा के आगे नतमस्तक होते हैं। मगर फिर भी वह सुख-सम्मोहन, वह एकाकी अलौकिक स्वर्ग हम-औरों के दरिद्र जीवन से कुछ बाहर की ही चीज रहता है। वह हमें धिक्कल करता है अवश्य, पर हमारे जीवन के अंदर पुष्ट और साकार नहीं होता। हमें मुक्ति का आलोक मिलता है, मुक्ति नहीं; मरल, ठोस, मुक्त जीवन नहीं। इल्दी घाटी के गणप्रताप, वाटरलू के नेपोलियन और भांसी की रानी और 'आजाद' नहीं दिल्ली के शहीद गांधीजी मिलते हैं... यह सारी गरिमा हमारी संस्कृति की अमर निधि हो जाती है, निश्चय; पर देश के जीवन में उस संस्कृति की सच्ची विजय, स्वतंत्रता की सर्वसुखदायिनी शक्ति, और अखिल जन-मन का अनुमत्त आनंद, समाज की आत्मा का सच्चा निर्माण—नहीं बन सकती। वह संघर्ष बड़ा दर्दनाक है जिसकी हारें ही उसकी विजय हों। उसकी महानता लोक-भावना की संपत्ति है : इसलिए नहीं, कि ऐसे संघर्ष में ही विजय की प्राप्ति है, बल्कि इसलिए कि ऐसे संघर्ष से भी उस लोक-शक्ति का धीरे-धीरे संचय होता है जो विजय-प्राप्ति को निश्चित करती है।

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

शैली की समस्या

वास्तव में समस्त साहित्य किसी न किसी रूप में भाव-प्रेषणीयता या भावाभिव्यंजन मात्र है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही समस्या का स्वरूप यह हो जाता है कि यह अभिव्यंजना किस प्रकार हो ! यही समस्या शैली की समस्या को जन्म देती है।

यदि शैली की एक वैज्ञानिक परिभाषा देने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें किसी प्रकार की विशेषता लाने के लिए स्थान नहीं के बराबर है। मेरी परिभाषा और किसी अन्य द्वारा बनायी परिभाषा में शब्दों के उलट-फेर के अभिक्ति कोई विशेष अंतर न होगा। कोई कहेगा शैली विचारों का आवरण है, जैसा कि चेस्टरफील्ड महोदय ने अपने पुत्र के नाम एक पत्र में लिखा था, किसी को शैली शब्द संचयन की कला में दिखायी पड़ेगी, और कोई कहेगा व्यक्तित्व-प्रधान भावाभिव्यंजन में ही शैली का रूप दर्शनीय है। इस प्रकार की अनंत परिभाषाएँ बनायी जा सकती हैं। किंतु यदि प्रत्यूपकालीन वातावरण का वर्णन भाषा में करना हो तो प्रत्येक मनुष्य का चित्र अपनी एक विशेषता लिये हुए होगा क्योंकि संवेदनाएँ और भावनाएँ भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न रूपों में कार्य करती हैं। इस प्रकार के वर्णन में व्यक्तित्व की एक विशिष्ट छाप जुड़ जाती है; हृदय और आत्मा के संयोग से एक नवीनता आ जाती है। वर्णन की यही विविधता शैली को जन्म देती है। वास्तव में कला या साहित्य में शैली का यही स्वरूप है।

उच्च साहित्य के निर्माण की समस्या प्रत्येक जाति या देश के लिए जीवन की समस्या है। ऐसे साहित्य की सृष्टि के लिए जो परंपरागत संस्कारों और गथादाओं की रक्षा करता हुआ और वर्तमान में अपने महत्व को प्रमाणित करता हुआ भविष्य के संबंध में सुंदर और आशापूर्ण संभावनाओं से परिपूर्ण हो, अत्यंत गंभीर और संस्कृत पृष्ठभूमि की अपेक्षा होती है जिसका एक विशिष्ट दार्शनिक धरातल हो और जिसके निर्माण में जीवन-तत्त्वों तथा आत्म-चिंतन की गहराइयों का उत्कृष्ट सामंजस्य हो। मनुष्य-जीवन के चिरंतन संस्कारों एवं आदर्शों की रक्षा का भार सदैव से साहित्य के ऊपर रहता आया है, इसलिए साहित्य का महान् दायित्व है जिसके कारण उसे अत्यंत सतर्क रहना पड़ता है। किंतु साहित्य-निर्माण की समस्त आवश्यकताओं के प्रस्तुत होने पर भी साहित्यकार के सामने अंतिम समस्या होती है शैली की जिसके माध्यम से वह अपनी भावना के चित्रों को स्वरूप प्रदान करता है और जनता से बोलता है। जहाँ

सुरेंद्रनाथ त्रिपाठी

उच्च से उच्च साहित्य-रचना की संभावनाएँ विद्यमान हैं वहाँ भी शैली के प्रभावहीन और निष्कृष्ट होने से सारे गुण अर्थहीन हो जाते हैं और उनकी गरिमा निर्जीव होकर समाप्त हो जाती है।

संपूर्ण हिंदी साहित्य पर दृष्टि डालने से हमें लज्जा के साथ यह कहना पड़ता है कि अभी तक हमारा साहित्य अत्यंत अल्प मात्रा में वास्तविक शैलीकारों को जन्म दे सका है। वैसे लिखनेवालों की एक बड़ी संख्या बतायी जा सकती है, पर ऐसे आचार्य कम मिलेंगे जिन्होंने लिखने के ढंग की एक परिपाटी चला दी जिसके अनुकरण में कुछ अन्य लेखक भी प्रोत्साहित होकर आगे बढ़ें और कुछ लिख सकें। इससे स्पष्ट है कि एक विशिष्ट शैली को प्राप्त करना और बात है और केवल लिखना मात्र और। अत्यंत कठिन साधना और निरंतर सतर्कता और प्रयास के पश्चात् ही लेखक एक अपनी शैली बना सकता है, यद्यपि इसके निर्माण में प्रतिभा का भी अंश यथेष्ट होता है। क्योंकि कितने लेखक लिखते लिखते मर जाते हैं किंतु शैलीकार नहीं बन पाते। और यह भी है कि प्रतिभा प्राप्त लेखक थोड़े अभ्यास और कम परिश्रम से ही अपने लिखने की एक शैली बना लेता है जिसका आभास उसकी समस्त रचनाओं में मिलता है और उसकी रचनाओं को पढ़नेवाले लोग बिना उसके नाम के भी यह जान सकते हैं कि यह रचना उसकी है। शैली-निर्माण का यही रहस्य है।

शैली का अत्यंत घनिष्ठ संबंध व्यक्तित्व और मौलिकता से है या इस प्रकार कहें कि शैली-निर्माण का अर्थ है लेखक के व्यक्तित्व का उसकी रचना में प्रसार (प्रोजेक्शन) और हमी व्यक्तित्व विस्तार के कारण ही जब मौलिकता भी रचना से आ मिलती है तो विषय अधिक स्पष्ट और सुलभा हुआ बन जाता है। जब हम कहते हैं कि अमुक लेखक की एक अपनी शैली है तो हमारा दृष्टि-बिंदु इसी विषय पर मुख्य रूप से केंद्रित होता है कि उसने अपनी रचनाओं में आत्मा की शक्ति डाल दी है और अपने व्यक्तित्व का रंग चढ़ाकर उन्हें सजीव बना दिया है। कला का भी इसी सजीवता से संबंध है। बिना व्यक्तित्व की छाप के या, दूसरे शब्दों में, कला के संयोग के कोई भी रचना शुष्क नीरस विवेचन के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती। इस प्रकार लेखक का व्यक्तित्व शैली के लिए प्रधान वस्तु है जिसका आधार और बल पाकर रचना विशेष रूप से सरस, मनोहारिणी और हृदयग्राहिणी बन जाती है। लेखक के व्यक्तित्व से तात्पर्य उसके साहित्यिक व्यक्तित्व से है जिसका संबंध ईश्वर-प्रदत्त गुणों एवं प्रतिभा से है। यदि लेखक महोदय अपनी विशेष रुचियों, इच्छाओं-अनिच्छाओं एवं अन्य इस तरह की व्यक्तिगत बातों को साहित्य में स्थान दें तो यह मौलिकता का दुरुपयोग होगा।

व्यक्तित्व और मौलिकता का संबंध प्रायः भ्रम का कारण होता है जिससे साहित्य में अनाचार फैलने की संभावना होती है और साहित्यिक-निर्माण अपने प्रकृत पथ से दूर

जा पड़ता है। मौलिकता किसी चीज के कहने के ढंग में होती है जो व्यक्तित्व-विशेष के प्रभाव के कारण होती है। मौलिकता से तात्पर्य किसी नवीन वस्तु को जन्म देने से नहीं है। मौलिकता का संबंध आविष्कार (इन्वेन्शन) से नहीं, दर्शन (डिस्कवरी) से है। संसार में ऐसा कुछ नहीं है जिस पर हमारे पूर्व महान् विचारकों, तत्त्वदर्शियों और साहित्य-पुंगवों ने दृष्टि न डाली हो या उसको किसी न किसी रूप में अपने चिंतन का अंग न बनाया हो। किंतु अंतर्दृष्टि प्राप्त विचारकों का चिंतनशील वर्ग स्वानुभूति-प्रसूत ज्ञान को भावना के रंगीन परिधान में सुसज्जित कर सदा से भाषा में अवतरित करता आया है। मौलिकता के इतिहास का यही स्वरूप है। व्यक्तित्व मौलिकता को पुष्ट करता है। साहित्य में व्यक्तित्व की स्थिति या प्रसार उसी बिंदु तक अपेक्षित और श्लाघनीय है जहाँ तक उनका संबंध विश्वहित से है। विश्वहित से तात्पर्य है उसको अधिक से अधिक व्यापक बनाने से क्योंकि साहित्य एक वर्ग की वस्तु न होकर समस्त जन-समुदाय के रंजन और आत्मोन्नति-साधन से संबंध जोड़ता है। यही कारण है कि साहित्य में किसी वर्ग-विशेष के दृष्टिकोण पर विशेष आग्रह से बल देने के कारण वह साहित्य एकांगी हो जाता है और विशुद्ध साहित्य के अंतर्गत आने की योग्यता खो देता है।

शैली में व्यक्तित्व का जितना आरोप अपेक्षित है उतना ही तिरोभाव। वास्तव में अभिव्यंजना की प्रक्रिया व्यक्तित्व का ही अंग है, इसलिए अच्छे लेखकों की शैली से व्यक्तित्वाभास स्वभावतः जुड़ा रहता है। किंतु रचना में लेखक का व्यक्तित्व स्वभाविक रूप में जिस हद तक आ जाय वही हद व्यक्तित्व के आरोप के अत्यंतभाव की सीमा होगी। यदि लेखक इस सीमा को लाँघकर आगे बढ़ने की चेष्टा करता है तो यह उसकी बहक होगी और उग स्थिति में व्यक्तित्व-निरोध की आवश्यकता होती है।

जॉन मिडलटन मरे ने कहा है कि जिस प्रकार शैली में व्यक्तित्व का अत्यंतभाव अनुमोदित है उमी प्रकार व्यक्तित्व का भाव या नैर्व्यक्तिकता का अत्यंतभाव भी अत्यंत आवश्यक है (‘मेक्सिमम आफ् पर्सनेलिटी एंड मेक्सिमम आफ् इंपर्सनेलिटी’)

शैली में लिखने का तात्पर्य होता है महत्वपूर्ण ढंग से लिखने की योग्यता। शैली-पूर्ण रचना अच्छी रचना का पर्याय है। अच्छी रचना कोई भी हो सकती है, गद्य, पद्य या इनके विभेद।

श्रेष्ठ शैली-निर्माण के पृष्ठ भाग में हृदय और मस्तिष्क के आदानपूर्ण सहयोग की शक्ति स्थित है। हृदय और मस्तिष्क को संतुलित रूप में विचार का अंग बनाने से महत्वपूर्ण शैली का जन्म होता है। यदि एक की शक्तियों का समुचित उपयोग और दूसरी की शक्तियों का तिरस्कार या बहिष्कार कर किसी रचना को महान् बनाने का दावा किया जाय तो यह आत्म-बंचना के एक प्रज्वलित उदाहरण के अतिरिक्त और कुछ न होगा। भावना और मस्तिष्क का यह संतुलन कविता (कला) की तो जीवनशक्ति है

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

ही, किंतु अन्य समस्त साहित्य के लिए भी जो शब्द-व्यापार से सम्बंध रखता है, इन तत्त्वों के समन्वय की अपेक्षा कम नहीं है, क्योंकि कोई साहित्यिक निर्माण (गद्य को ही ले लीजिए) यदि केवल हृदय-प्रधान है तो यह निश्चित है कि लेखक ने बहुत-सी बहकी-बहकी, ऊल-जलूल बातें की होंगी, और यदि उस साहित्य में केवल शुष्क मस्तिष्कवाद की गाथा गायी गयी हो तो स्पष्ट है कि उससे हमारा हार्दिक साम्य नहीं हो सकेगा और उसकी नीरसता के प्रति हमारा कोई आकर्षण या किसी प्रकार का उत्साह न होगा । भावना और मस्तिष्क के संधि बिंदु पर शैली का सृजन होता है । श्रेष्ठ रचनाएँ, जिनके लिए शैलीपूर्ण दूसरा नाम है, भावना और मस्तिष्क के विरोध में नहीं, प्रत्युत उनके सहयोग में जन्म ग्रहण करती हैं ।

साहित्य-समालोचना की किसी समस्या पर अंतिम निर्णय देना अत्यंत कठिन है, किंतु इस प्रकार के अंतिम शब्द की अपेक्षा करना ही कहाँ की बुद्धिमानी है । साहित्य का मानदंड युग और परिस्थितियों के आघात-प्रत्याघातों से बनता-भिगड़ता रहता है, परिवर्तनशील है, और यही उसकी संप्राणता और ग्रहणीयता का द्योतक है । जहाँ तक शैली का संबंध है, इसके कठोर वर्गीकरण का प्रयत्न करना जितना ही अनावश्यक है उतना ही मूर्खतापूर्ण । मरे महोदय ने इस प्रकार के एक अत्यंत सतर्क और व्यापक वर्गीकरण की चेष्टा की है जो विशेष त्रुटिपूर्ण नहीं है । उनके अनुसार शैलियाँ, साधारण रूप से, तीन विभागों में परिगणित की जा सकती हैं :—

(क) व्यक्ति-वैविध्य-परक, जो अभिव्यंजना की विशेषता और वैयक्तिकता से जो किसी लेखक को पहचानने में सहायक होते हैं, संबंधित है ।

(ख) व्याख्या-परक जिसका संबंध निश्चित क्रम में आये हुए विचारों की व्याख्या-प्रणाली से है । इस प्रकार की शैली का संबंध लेखक या दार्शनिक से है, कवि या उपन्यासकार से बहुधा नहीं ।

(ग) तीसरा वर्ग अत्यंत व्यापक है । इसके अंतर्गत साहित्यिक-उत्कर्ष-परक शैलियाँ रखी गयी हैं । यह महत्व की दृष्टि से शैली का सबसे उत्कृष्ट स्वरूप है और आत्मा और विश्व के एकीकरण और समन्वय से संबंध रखता है ।

यदि हम साहित्य के स्वरूप और उसके विस्तारों का अपने सामने एक मानसिक चित्र उपस्थित करें तो उपर्युक्त वर्गीकरण प्रायः ठीक उतरता है । वैसे तो इसका मूल्य प्रयोगात्मक ही है, स्थायी नहीं ।

शैली वास्तव में शब्द-चयन की कला है, लेखक के शब्द-समृद्धि का कमनीय प्रकाश है जिसके पीछे विचार की शक्ति छिपी होती है । विचारानुक्रम में कौन-से शब्द कहाँ 'जड़े' जाने चाहिए जिससे कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों का प्रकाशन हो जाय—यही शैलीकार की समस्या और उद्देश्य होते हैं । अच्छी शैली में अनावश्यक

विस्तार और व्यस्त शब्द-जाल के लिए स्थान नहीं है। लेखक विचार-चिंतु को दृष्टि-पथ में रखकर अपनी प्रतिभा के बल से जो सुजन करता है वह श्रेष्ठ शैली का उदाहरण होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लेखक विचार की दासता में पड़कर शुष्क और नीरस सृष्टि करे। उसे अपनी रचना को आकर्षक और मनोहारिणी बनाने के लिए साम्य-दर्शन, उदाहरण और प्रतीक आदि रीतियों का अवलंब लेना आवश्यक होता है। उसे उधर-उधर की बातें बचने का उस स्थिति तक अधिकार है जहाँ तक यह बातें किसी न किसी रूप में मुख्य वस्तु का स्पर्श करती हों। संपूर्ण रचना के भवन-निर्माण का ऐसा मुडौल और सुयोग्य नियमन होना चाहिए कि उसका विचार-स्तम्भ से, जो मुख्य आधार है, किसी न किसी रूप में लगाव बना रहे, अन्यथा वह टिक नहीं सकता। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर लेखक बेखटके अपनी कल्पना का साहाय्य भी स्वीकार कर सकता है। उसे केवल अनगलता के भूत से बचने का यत्न सदैव करते रहना चाहिए।

शैली का संबंध मुख्यतः गद्य से माना जाता है, और एक शैली बनाने और शैली में लिखने की ज़रूरत होती है तो उसका मतलब गद्य शैली से ही होता है। शैली भाषा का गुण है जिसका प्रसार-क्षेत्र विशेषतया गद्य साहित्य है। शैली निर्दोष और पूर्ण वही मानी जाती है जिसमें विचारों और अनुभूतियों की अभिव्यंजना पूरी-पूरी और ठीक-ठीक [exact] हुई हो। रचना की महानता की कगौड़ी यही है कि लेखक जो कुछ भी कहना चाहता है उसको वह भाषा के माध्यम में ठीक-ठीक सजा सका है या नहीं। प्रमुख विदेशी आलोचकों और कवियों तथा कवि-आलोचकों ने स्पष्ट रूप से अपने विचारों का निष्कर्ष यही दिया है। वे श्रेष्ठ कविता उसी को मानते हैं जो वादों आदि की संकीर्णता से मुक्त होकर भाव-प्रकाशन की पूर्णता में निर्मित हो। यदि किसी कवि का किसी वाद से मानसिक समन्वय एवं सामंजस्य हो गया हो और उसकी विचारधारा उसके (वाद) तत्वों से अनुप्रणित हो गयी हो तो उस स्थिति में वह वाद वाद न होकर विचार की स्वाभाविक शक्ति प्राप्त कर लेता है और कवि की अभिव्यंजना के लिए घातक नहीं सिद्ध होता। कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना ही प्रधान वस्तु है, उसमें गद्य और पद्य का बाँझ निरर्थक है। वास्तव में कविता और गद्य में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, दोनों एक ही तत्व-उपकरणों से वेष्टित और संस्कारित होते हैं; भेद होता है केवल वेष्टन का। गद्य और पद्य में अवश्य भिन्नता और असाम्य है। गद्य और कविता को विरोधी समझना बहुत बड़ा भ्रम है जिसका जन्म पद्य को, जो केवल वेष्टन मात्र है, कविता का पर्याय मान लेने के कारण होता है।

गद्य और कविता एक ही जीवन-तत्त्वों से संप्राणित होने के कारण उनमें शैली का विकास एवं विस्तार समान रीति से होता है। केवल माध्यमिक विभेद के कारण वस्तु-दर्शन एवं निर्णय में तत्संबंधी विभिन्नता आ जाती है। काव्य-शैली के द्रष्टा की भाषा

सुरेंद्रनाथ त्रिपाठी

और शब्द-जंझार एक विशिष्ट प्रकार के होंगे और गद्यांशों के भाषा में वही विशेष-ताएँ नहीं मिलेंगी। इससे मालूम होता है कि काव्यशैली के मीमांसक की दृष्टि कुछ ऐसे विशेष तत्वों पर अधिक सुरचि के साथ जा टिकती है जो तत्त्व काव्य के प्राण हैं। कितनी संतुलित और सतर्क व्याख्या गद्य में आवश्यक रूप से प्राप्य है, कविता में उस पर उतना बल नहीं दिया जाता। कविता में जहाँ विश्वास प्रमुख है, गद्य में इसके विपरीत तर्क और वैज्ञानिकता पर विशेष बल दिया जाता है। इस प्रकार बल या 'स्ट्रेस' के पृथक् होने के कारण काव्य और गद्य की शैलियों तथा अनुशीलन-प्रणाली में भी भिन्नता आ जाना स्वाभाविक है। किंतु फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, साहित्य की इन दो शैलियों में तात्त्विक एकता का सूत्र अविश्वंखलित ही रहता है।

जब कोई विचार लेखक के मस्तिष्क में स्थान पाकर भावना-वृत्त के सहयोग से विकसित हो एक अस्पष्ट रूप में स्थित शब्द का अमरत्व प्राप्त करने के लिए चंचल रहता है तो लेखक की यह समस्या होती है कि साहित्य का कौन रूप उसे विशेष प्रभावपूर्ण और सशक्त ढंग से व्यक्त कर सकता है। इस समस्या को सुलभाने के लिए कोई मंत्र या कोई नयी-तुली विधि नहीं है। इसका संबंध लेखक की अपनी प्रतिभा और अंतर्दृष्टि से है और एक अभ्यस्त लेखक को भाव या विचार प्राप्त हो जाने पर रूप का निर्णय करना मठिन नहीं होता। विचार, यदि वह सच्चा और प्रकृत है, तो उसका भी यह गुण होता है कि अंतर्ज्ञान की प्रक्रिया से वह लेखक को अपने रूप का आभास दे दे। साहित्य सृजन की विभिन्न शैलियाँ हैं जिनकी अपनी माध्यमिक विशेषताएँ और मान्यताएँ हैं, जिनके अनुगमन में ही लेखक की सफलता मानी जाती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक विचार इनमें से हर एक शैली के अनुकूल नहीं हो सकता और यदि अनुकूल बनाने की चेष्टा भी की जाय तो वह अपनी स्वाभाविक शक्ति का त्याग कर प्रभावहीन हो जाता है। इसलिए रूप के प्रश्न को लेखक को संकलित मानसिक स्थिति में और बड़ी सावधानी तथा विशेष सतर्कता से करना चाहिए। कहते हैं, गुरुदेव रवींद्रनाथ भावोदय की अवस्था में कागज पर पेंसिल से रेखाएँ खींचा करते थे और इसी तरह खींचते-लिखते हुए वे यह निर्णय कर लेते थे कि उनका भाव कौन-से रूप को ग्रहण कर सबसे अधिक प्रभावकर हो सकता है। यह लेखकों की अपनी-अपनी विशेषता होती है जो अंतर्दृष्टि की सजगता और शक्ति से प्राप्त होती है।

शैली का संबंध अभिव्यंजना से होने के कारण प्रश्न यह उठता है कि यह अभिव्यंजना कैसी हो ? प्रत्येक प्रकार की अभिव्यंजना शैलीपूर्ण नहीं हो सकती। जब शैली के साथ अभिव्यंजना का विचार करते हैं तो हमारा ध्यान अस्त-व्यस्त और असंगठित शब्द-समूह पर नहीं जाता जिसमें न कोई सौंदर्य हो, न संस्कार। सुरचिपूर्ण और आकर्षक रचना में ही सुष्ठु और अलंकृत शैली का परिपाक हो पाता है। सौंदर्य-तत्त्व शैली की

मजीबन शक्ति है जिसके अभाव में वह अपना कोई महत्व नहीं रखती। यदि कुछ अंश पढ़ लेने पर ही कोई रचना संपूर्ण को पढ़ने के लिए उत्साहित और उत्सुक न करे, जो सौंदर्य के बिना संभव नहीं है, तो उसके शैली-समन्वित होने में संदेह होता है। भाषा का ओज और भाषागत अन्य सौंदर्य और उत्कर्ष शैली के विभिन्न अवयव हैं जिनका बल पाकर वह अपना ऐच्छिक प्रभाव डालने में समर्थ होती है। सौंदर्य-तत्व के कारण रचना में एक विशिष्ट गरिमा और उच्चता आ जाती है जिसका संयोग आनंद की सृष्टि करता है। आनंद का सृजन ही प्रत्येक रचना का अंतिम उद्देश्य होना चाहिए। आनंद की साधना (साध्य) में शैली साधन-रूप में उपस्थित हो कार्य को प्रभावित कर उद्देश्य-प्राप्ति में सहायक होती है।

जो शैली सौंदर्यपूर्ण होगी उसका सत्य और शिव अथवा कल्याणकर होना स्वाभाविक अनिवार्यता है। सत्य, सौंदर्य और शिव एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं और इनमें से किसी एक का किसी वस्तु से आंगिक संबंध होने के कारण अन्य दोनों तत्वों का भी उस वस्तु से संबंध होना निश्चित है। सौंदर्य की भाँति सत्य और शिव का भी आध्यात्मिक महत्व है। सत्य का संबंध ब्रह्म से है और जिस रचना में इस तत्व का मान्निष्ठ हो उसमें ब्रह्मानंद के प्रसाधन की शक्ति होती है। यह भी एक सत्य है और इसे निरा आदर्शवाद मानने से ही साहित्य अथवा काव्य के स्तर में पतन होता है। मध्य का तात्पर्य जगत् और जीवन के सत्य से तो है ही, पर इसके अतिरिक्त उसका दर्शन ऐसे स्थलों में भी होता है जिनका ग्रहण केवल अनुभूतिमिद्ध होता है या जो केवल अनुभवगम्य होते हैं, बाह्य नेत्रों से दर्शनीय नहीं। यही सत्य चिरंतन और शाश्वत है जो किसी रचना को युगों तक जीवित रखता है। सत्य सौंदर्य से युक्त होकर अत्यंत आकर्षक और नेत्र-सुलभ हो जाता है और दोनों के सामंजस्य का यही विशेष मूल्य है। जहाँ तक शिवत्व का संबंध है, कोई भी वस्तु जो सत्य और सौंदर्य से समन्वित है, वह कल्याणकारी भी होगी ही। समस्त साहित्य और दर्शन आदि वाङ्मय का उद्देश्य ही यही है कि वे समाज को जीवित रखें और अपने उत्कर्षपूर्ण प्रभावों की शक्ति और सुरभि से उसके उत्थान में योग देने रहें। समाज के कारण ही उनका अस्तित्व है, इसलिए वे समाज के एक अंग हैं, और इस रूप में उनका समाज के हित में रत रहना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इस प्रकार सत्य, सौंदर्य और शिव से परिपूर्ण होना महान् रचना के लक्षण हैं, और इन तीनों के समन्वय से पुष्ट साहित्यिक शैली का श्रेष्ठ और संस्कृत शैली के रूप में ग्रहण होगा। शैली के लिए इन तत्वों की एकांत सत्ताएँ भी महत्वपूर्ण हैं, फिर इनकी सम्मिलित शक्ति प्राप्त कर उसका विशेष गौरवपूर्ण हो जाना स्वाभाविक ही है।

जहाँ श्रेष्ठ शैली को उपर्युक्त तत्व-त्रयी की शक्ति प्राप्त होती है और जहाँ वह लेखक

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

के व्यक्तित्व-दर्शन के लिए पारदर्शी यंत्र का कार्य करती है, वहीं उसका यह स्वभाव है कि वह वर्णित सामग्री को अत्यंत स्पष्ट और चित्रवत् अंकित कर दे, क्योंकि बिना इसके शैली का लेखक और पाठक के बीच की सुखद कड़ी होना संभव नहीं। आलोचकों ने लिखा है कि वास्तविक शैली यही है जिसमें हम वस्तु को नेत्रों से देख सकें और उसे हाथों से छू सकें। समस्त सच्ची शैली का तत्व इसी मानसिक या काल्पनिक दर्शन में है जैसा कि एक प्रमुख आधुनिक फ्रांसीसी आलोचक रेमी द गूरमां का भी कथन है। एक विधायक प्रतिभा के लेखक के लिए अन्यान्य कल्पना-चित्रों का चातुर्पुत्र ज्ञान अत्यंत आवश्यक होता है जिनका वे लिखते समय स्वेच्छा से उपयोग कर सकें। ऐसे चित्रों की समृद्धि लेखक को महान् बनाने में सहायक होती है। इससे रचना में यथार्थता (प्रेसिजन) आती है और भाव-गुण की प्रेषणीयता विशेष सबल और ठीक-ठीक होती है, जिससे पाठक भी उस भाव का आस्वादन समान रीति से कर पाता है। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी लेखक को महान् बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास प्रत्येक प्रकार की सौंदर्यानुभूति की असीम क्षमता हो।

किंतु लेखक की महानता इस अनुभूति-विस्तार पर ही आश्रित नहीं है। उसका भावात्मक अनुभव, जो परिष्कृत होकर भावात्मक प्रतीति बन जाता है, सौंदर्यानुभूति से भिन्न वस्तु है। संपूर्ण जीवन के गुणों एवं तत्त्वों को समझना, विशेष में विश्वव्यापी का दर्शन करना, और विश्वव्यापी की विशेष में प्रतीक-रूप में स्थिति—यह रचना-संबंधी ऐसी बातें हैं जो लेखक के महान् होने की घोषणा करती हैं और जो समस्त महान् शैली में स्पष्ट रूप से दर्शनीय हैं। महान् लेखक को भौतिक जगत् की रूप-योजना को आत्मा के संसार में ले जाना पड़ता है, उसे अपरिभाष्य की परिभाषा देने में प्रयत्नशील रहना पड़ता है।

शैली-संबंधी इस सूक्ष्म अनुशीलन के पश्चात् एक अन्य विवाद पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। क्या शैली को अनुकरण की वस्तु माना जा सकता है? अनुकरण कहाँ तक शैली बनाने में सहायक होता है? अनुकरण-शीलता मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति होने कारण जन्म के एक-आध वर्ष बाद से लेकर जीवन-पर्यंत सक्रिय रहती है और भिन्न-भिन्न मार्गों और रूपों में कार्य करती रहती है। मनुष्य को वाणी देनेवाली या भाषा में बोलने योग्य बनानेवाली यही प्रवृत्ति है, और जैसे-जैसे वह बढ़ा होता जाता है, उसका भाषा-ज्ञान और उसके भाषा के प्रयोग उसी परिमाण में विस्तृत और समृद्धिपूर्ण होते जाते हैं। उस अवस्था से जब कि उसका मस्तिष्क विकासोन्मुख होता है और वह भाषा के कुछ प्रौढ़-प्रयोग भी करने लग जाता है, तब उसकी अनुकरण-वृत्ति भी विशेष तत्परता से कार्य करती है। जहाँ तक लेखक (या कवि) का संबंध है, वह भी सतर्क और विवेकशील अनुकरण के आश्रय से धीरे-धीरे

अपना एक स्थान बना सकता है और फिर अपनी एक विशिष्ट शैली भी विकसित कर सकता है।

रॉबर्ट लुई स्टीवेंसन जो अंग्रेजी साहित्य के एक उच्चकोटि के शैलीकार माने जाते हैं, छोटी अवस्था से ही बड़े-बड़े पंडितों की भाषा की प्रतिलिपि कर उसे रटा करते थे। और यह कार्य उन्होंने बहुत दिनों तक और बड़े परिश्रम से किया। इसी के फलस्वरूप वे स्वयं भाषा के एक बड़े कुशल पंडित बन गये। इसलिए अनुकरण को तुच्छ समझना हमारे हीनता-भाव का ही परिचायक है। अनुकरण को प्रतिभा का संसर्ग तथा बल मिल जाने से शैली भी चमक उठती है और शीघ्र ही अपना एक स्थान बना लेती है। इससे एक बात और स्पष्ट है कि शैली पढ़ायी या सिखायी नहीं जाती, वह स्वयं सीखी या प्राप्त की जाती है। यदि शैली बनाने की भी शिक्षा के लिए कहीं स्थान होता तो कोई भी एक निश्चित अवधि के बाद शैली में लिखने लगता। पर ऐसा नहीं है। इसमें लिखते हुए अंग्रेजी साहित्य के पटु और गंभीर आलोचक वाल्टर रैले ने कहा है—

“But style cannot be taught. Imitation of the masters, or some one chosen master, and the constant purging of language by a severe criticism, have their uses, not to be belittled : they have also their dangers. The greater part of what is called the teaching of style must always be negative, bad habits may be broken down, old malpractices prohibited.”

इन पंक्तियों में भी शैली के अच्छे पंडितों का सतर्क अनुकरण अनुमोदित है। शैली-संबंधी शिक्षा के विषय में भी रैले का मत महत्वपूर्ण है। यह सच है कि शैली की विधेयत्मक शिक्षा नहीं दी जा सकती, उसे प्रतिभा और आत्म-तत्व को आघात पहुँचता है। जो कुछ भी विधान दिया जा सकता है उसका स्वरूप निषेधात्मक ही होता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भावानुभव और उनकी सौंदर्यानुभूतियों के संग्रह एक दूसरे से पृथक् रेखाओं पर निर्मित होने के कारण उनकी रचना-शैलियाँ आवश्यक रूप से भिन्न होंगी। विधेय-पक्ष में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि साधारण रूप से अम्ल गुण शैलियों में मिलते हैं, किंतु यह केवल उदाहरण के रूप में होगा। वही गुण एक लेखक-विशेष की प्रतिभा को स्वीकार हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते।

शैली के संबंध में दूसरा प्रश्न जो विचार्य है वह है उसके विस्तारों तथा बाह्य उपकरणों की स्थिति-अनुपस्थिति का सवाल। पहले हम देख चुके हैं कि शैली का यथार्थ (प्रिसाइज) होना आवश्यक है। इस गुण को लाने के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का विन्यास अत्यंत वैज्ञानिक और संतुलित हो।

जहाँ तक शैली के अलंकारात्मक अंश का संबंध है, उसके रहने या न रहने का

सुरेंद्रनाथ त्रिपाठी

संबंध लेखक के स्वभाव और कुछ विषय पर भी आश्रित है। वस्तुतः बड़े-बड़े शैली-कारों का इस ओर ध्यान न रहते हुए भी उनकी रचना में अलंकारों की मनोहर छटा देखने को मिलती है जो विषय से हिल-मिलकर एक सुंदर समन्वय में विलीन रहते हैं। वास्तव में शैली में अलंकारों का यही स्थान होना चाहिए। शैली को अलंकृत करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम गिरती-पड़ती, लड़खड़ाती उपमाओं को घसीटकर स्थान पूर्ति करने लिए खड़ा ही कर दें। लेखक को ऐसे अलंकार-विज्ञान से सदैव बचना चाहिए। उपमा का अस्तित्व ऊपर से सी हुई मोती के समान नहीं है, इसके विपरीत वह लेखक के आत्मिक भाव-वृत्त की सुंदरतम अभिव्यंजना है। शैली में, इस प्रकार, किसी भी विदेशी या असहज और बाह्य आलंकारिक उपकरण के लिए स्थान नहीं है। सर आर्थर किलर-काउच ने कहा है, 'शैली बाह्य अलंकरण नहीं है—न हो सकती है।'।

अधिक अलंकार और मौलिकता के चकर में पड़ने से शैली अपना प्रकृत सौंदर्य और सामंजस्य खो देती है और उसमें कृत्रिमता आ जाती है। कर्कश शैली में व्यक्त विचार सुंदर से सुंदर क्यों न हों, पाठक पर उनका कोई प्रभाव न पड़ेगा, क्योंकि जिस रचना की शैली पढ़ने का उत्साह न अंकुरित करेगी उसका प्रभावपूर्ण होना असंभव है। कार्लाइल विचार-गांभीर्य एवं दार्शनिकता के कारण अंग्रेजी साहित्य के गम्मानित मनीषी भले ही हों, पर शैली की दृष्टि से आलोचक उन्हें निम्न स्थान देते हैं। उनकी शैली में भाषा की स्वाभाविक गति और प्रवाह के कहीं दर्शन नहीं होते और न माध्यम की वह ओजस्विता ही देखने को मिलती है जिसका शैली से संबंध है। इसके विपरीत उनके पद-विन्यास से पग-पग पर बनावट की गंध आती है और कहीं-कहीं तो इस प्रवृत्ति के कारण पद-संविधान अत्यंत विकृत और कर्कशतापूर्ण हो गया है। शैली में इस प्रकार के व्यक्ति-विशिष्ट बनावटीपन को अंग्रेजी में "मैनरिज्म" कहते हैं और इसे बुरी शैली का लक्षण माना जाता है। कार्लाइल के बाद उनकी शैली का अनुकरण करनेवाला कोई नहीं मिलता—दोषपूर्ण होने के कारण उनकी शैली अनुकरण के योग्य नहीं पायी गयी। ऐसी शैली मरणशील होती है। कार्लाइल आज जीवित हैं अपने विचारों की शक्ति के कारण, न कि शैली के कारण।

इतना लिखने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है कि क्या शैली का व्याकरण-सम्मत होना आवश्यक है? व्याकरण का क्षेत्र भाषा में क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध, इसका निर्णय करना है। शैली का संबंध साधारण रूप से केवल भाषा के सर्वमान्य पक्ष से है, पर इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि वह कभी तो व्याकरण के कठोर नियमों को स्वीकार करती है और कभी उनकी बुरी तरह अवहेलना भी करती है, और फिर भी मौलिकता के लिए आदर की पात्र होती है। व्याकरण का अनुशासन

लेखक को भाषागत स्पष्टता और सरलता, तथा यथार्थता और संपन्नता प्राप्त करने के लिए समुचित क्षेत्र प्रदान करता है। वाक्यों का विन्यास, क्रियाओं का अनुक्रम, तथा सहायक क्रियाओं की स्थानानुकूल स्थिति आदि ऐसी बातें हैं जिनमें विशेषता और दक्षता प्राप्त करने के लिए व्याकरण की सहायता लेखक के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि लेखकों की भाषा में यत्र-तत्र असंबद्ध प्रयोग रह जाते हैं,—दूषित या बुरी शैली से इसका कोई संबंध नहीं,—जो मुख्यतः अनभ्यास के कारण होता है। ऐसे असावधान प्रयोगों से शैली का महत्व कम हो जाता है।

इस प्रकार शैली लेखन-कला के उत्कर्ष की प्रसाधिका तथा भाषा की विधायक शक्ति का साधन है। उसका संबंध आत्मिक संपन्नता से है। इन कुछ पृष्ठों का उद्देश्य शैली के स्वरूप का स्पष्टीकरण मात्र है। मैंने संक्षेप में शैली से संबंध रखनेवाली विभिन्न समस्याओं एवं प्रश्नों की यथासंभव सुलभी हुई व्याख्याएँ देने का यत्न किया है। शैली, जैसा कि स्पष्ट है, कहने के ढंग से होती है, उसका संबंध अभिव्यंजना की कला से है। यह अभिव्यंजना जितनी ही सशक्त होगी, शैली का भी उसी परिमाण में शक्ति-गर्भित होना निश्चित है। शैली शब्द-प्रयोग और शब्द-संघटन की कला है, अतः एव जहाँ भी शब्द-व्यवसाय किसी न किसी रूप में प्राप्य है, वहाँ शैली की स्थिति अनिवार्य है। शब्द-प्रयोग का उत्कृष्टतम स्वरूप ही सर्वश्रेष्ठ शैली का उदाहरण होगा, और यह प्रयोग जितना ही लचर और अस्तव्यस्त होगा, शैली भी उसी मात्रा में निकृष्ट और दूषित होती जायगी। शैली का अनुरंजनकारी और मोहक होना उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इसीलिए श्रेष्ठ शैलीकारों की रचनाओं में यत्र-तत्र हास्योत्पादक परिसरों की संगृष्टि मिलती है, अन्यथा शैली के थकानेवाली हो जाने का भय रहता है। शैली वही महान् मानी जाती है जिसके रचन के पृष्ठभाग में भाव-जगत् और अनुभूति-लोक का सुंदर सामंजस्य निहित हो। इसके अतिरिक्त यथार्थता, स्पष्टता, संगीतात्मकता, रोचकता, संतुलन, सौंदर्य आदि गुण शैली में साधारण रूप से न्यूनान्तर मात्रा में प्राप्य हैं। जैसा कि आरंभ में लिख चुके हैं, केवल लिखना एक चीज है, विशेषता के साथ लिखना दूसरी। इसी विशेषता के साथ लिखने का दूसरा नाम शैली में लिखना है। यदि कोई रचना हमें विशेष रूप से प्रभावित करती है तो यह सम्भूना चाहिए कि यह उसके लेखक की शैली का ही चमत्कार है।

अफ़लक़ मेहता

दलदल

लाहोर-अमृतसर लाइन पर अटारी स्टेशन लाहोर से लगभग ३२ मील पर है। शांति के दिनों में लाहोर से अमृतसर सड़क के रास्ते हर दस मिनट पर बसें छूटती थीं और यह रास्ता इतना चलता था कि रात या दिन के किसी भी समय उस पर शांति नहीं रहती थी। रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर कच्चे रास्ते से पाँच मिल ताँगे में चलकर जब आप कुछ नयी, आधुनिक इमारतों के पास पहुँचते हैं तो आपकी जिज्ञासा जागती है कि यह क्या जगह है। यह है एक नयी प्रयोगशाला जहाँ कुछ पढ़े-लिखे नौजवान देहात के जीवन के विषय में—किसानों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, उनकी इतर समस्याओं के विषय में—जानकारी हासिल करते हैं। ये सभी आदशों के बल पर जीनेवाले भले लड़के हैं जो देहात के जीवन को अधिक सुखी, समृद्ध और हितकर बनाने की चेष्टा में प्राण-पण से लगे हैं। पर यह सब अब वर्तमान की कहानी नहीं, किमी बीते हुए अतीत की याद का सपना है। तब के जीवन में और अब की मृत्यु में कोई साम्य नहीं है—तात्त्विक भी नहीं क्योंकि मृत्यु को भले ही आप जीवन का चरम बिंदु मान लें पर इन दोनों में किसी भी प्रकार का साम्य आप स्थापित नहीं कर सकेंगे। और इतना बड़ा परिवर्तन इतनी तेजी से हो जाय तो यह विश्वास नहीं होता कि कभी वह दिन भी था जब हिंदू और मुसलमान और सिख बिना किसी की प्रकार की आशंका के, भय के, इस रास्ते पर एक ही बस में लदकर कोड़ियों और सैकड़ों की तायदाद में इधर से उधर और उधर से इधर जाया करते थे। सड़कों पर वे एक साथ चलते थे, ताँगों पर एक साथ लदकर गाते-हँसते रास्ता तै करते थे। वह सब अब फिर क्या कभी होगा ?

इन नयी इमारतों से लगा हुआ वह छोटा-सा गाँव है जिसका भला सा नाम है, जहाँ बड़े-बड़े कच्चे मकानात हैं जिनके लंबे चौड़े दरवाजे और चौड़ी-चौड़ी मिट्टी की दीवारें सैकड़ों बरसों से शायद इसी तरह मौसमों के थपेड़ों को फेलती आयी हैं। इन मकानों में सदियों से हिंदू, मुसलमान और सिख एक दूसरे से मिलकर रहते आये होंगे, कितनी स्मृतिथॉ होंगी जो उनको स्पंदित करती होंगी, आनंदित करती होंगी, एक आपसी भाई-चारे से भर देती होंगी। लेकिन वह सब क्या हुई ? लगता है कि वह सुख, संतोष, सौहार्द एक सपना था जो आँख खुलते ही उचट गया। यह विश्वास करते जी हिचकता है, लेकिन सच्चाई से बड़ा सत्य और क्या है ?

इस गाँव का नाम क्या है यह आपका किसा कहनेवाला भूल रहा है। लेकिन नहीं, याद आया, यह है पिंड फिरोज। सदियों के गुलाम भारत को ईस्वी सन् १६४७ की १५ अगस्त को तथाकथित आजादी मिली और इससे पहिले १२ से ही लाहोर के आसपास रक्तपात आरंभ हो गया। इतना भयंकर रक्तपात इतिहास में तो कभी हुआ नहीं। और यह हुआ बीसवीं शती में, सभ्यता के इस चरम-विकास के युग में। हमारा यह प्राचीन देश सैकड़ों वर्षों की नींद अथवा तंद्रा के बाद जैसे अँगड़ाई ले रहा था और अर्द्ध-चेतनावस्था में ही सब कुछ कर रहा था। उसे जैसे ज्ञान ही नहीं बचा था कि भाई द्वारा भाई की हत्या से बड़ा पातक और कोई नहीं है। लाहोर में मार-काट शुरू हुई, अमृतसर के जिले में भी शुरू हुई और गाँवों में और कस्बों में और शहरों में लूट-पाट, आग लगाना भी शुरू हो गया। पिंड फिरोज भी इस जहर से अलूता न बच सका। उन नयी इमारतों में रहनेवाले भले लोगों से लेकर गाँव के लंबे-चौड़े नवयुवकों ने रक्त की वह होली खेली जिसकी मिसाल इतिहास में न मिली है, न मिलेगी। और भी जो अनाचार संभव हो सकता है वह सब हुआ। औरतों का अपहरण, बलात्कार और धर्म-परिवर्तन सब कुछ हुआ। और यह अराजकता बहुत दिनों तक चलती रही और जब समस्त प्रदेश के निवासी सड़कों पर और मैदानों में तितर-बितर हो गये तब कहीं उसका जोर कम हुआ। अब पता चलता था कि न केवल भारत के इतिहास में वरन् संसार के इतिहास में इतनी बड़ी संख्या में लोगों ने स्थान-परिवर्तन एक साथ कभी नहीं किया होगा—अब कहीं कुछ अंदाज लगता था कि यह कितना बड़ा विस्फोट था। सारे रास्ते शरणार्थियों से घुट गये, लाखों की संख्या में आवादी एक जगह से दूसरी जगह चलने लगी—पंजाल, ब्रैलगाड़ियों पर, घोड़ों पर मामान लादे, मोटर लारियों पर, मोटरों पर। लोगों के चेहरे दानवता से दीप्त, भय से कातर, मानवता से मलिन। किसी की भी समझ में नहीं आता था कि अचानक यह क्या हो गया कि मनुज के अंदर का यह दानव जाग उठा और उसने सर्वनाश का निश्चय कर लिया। बड़े-बड़े नेताओं के हाथ-पाँव फूल गये—उन्होंने उस दानव को जगा दिया था जिसे फिर सुलाने का मंत्र वे न जानते थे। अमृतसर-लाहोर की सड़क आने-जानेवालों से एकदम भर गयी, यहाँ तक कि उस पर चलना ही असंभव हो गया। सड़क की दोनों पटरियों पर जहाँ तक भी जगह मिल सकती थी और जहाँ तक भी दृष्टि जाती थी लोगों ने धूला-च्छादित राह बना ली थी और हम लंबी-चौड़ी सड़क पर अनवरत जन-समूह चलता ही चला जाता था। पावस का अंत था, हवा में नमी थी और थोड़ी ठंडक भी और आकाश बिल्कुल स्वच्छ, निरभ्र था। प्रकृति का सौंदर्य अवर्णनीय था और मनुष्य की कुरूपता और भी वर्णनातीत।

सितंबर मास की अंतिम तिथि थी जब सुलखी अपनी दो लड़कियों कुंती और गौरा

अकलंक मेहता

के साथ अटारी के स्टेशन पर अर्द्ध-मृतावस्था में उतरा। बड़ी लड़की कुंती की आयु रही होगी यही आठ वर्ष की, छोटी गौरा की छः की। उनके चेहरे कुम्हला गये थे, गौरा रंग गर्द-मिट्टी और भूख की तेजी से स्याह पड़ गया था : यहाँ तक कि उनके गालों का रंग जो अभी दो मास पहले बिल्कुल सेब के रंग का था अब अजीब बद-नुमा हो गया था। उनकी आँखें चकित, विस्फारित और प्रकाशहीन हो गयी थीं। मुलखी लंबा-चौड़ा, भारी-भरकम इंसान रहा होगा जैसा कि उसकी चौड़ी दृष्टियों—जिनका अब वह ढाँचा मात्र रह गया था—से पता चलता था। लेकिन इस समय तो वह दया की भिक्षा माँगता हुआ एक हतोत्साह नर-कंकाल से अधिक कुछ नहीं था। उसकी आँखें फटी-फटी-सी थीं, बाल बिल्वे हुए और चेहरा मैल और पसीने और बड़ी हुई दाढ़ी के कारण एकदम घना स्याह हो गया था। उसकी घुटने तक की नीची कमीज कभी पीली और लाल लंबी धारियोंवाली रही होगी पर इस समय वह काले धब्बों और उससे भी ज्यादा मैल और बदबू से भर गयी थी। उसकी शलवार जो खूब बारीक गऊ कपड़े की थी और जिसकी मोरियों पर बड़ा सुंदर काम किया हुआ था इस समय एकदम स्याह और शिकन से भरी हुई थी। उसके सिर पर एक गट्टर था जिसकी रंगत उसके कपड़ों से भी बदतर थी। दोनों हाथों में छोटी-मोटी और भी पोटाँलियाँ थीं जिनमें, अंदाज होता है, खाने-पीने की चीजें थीं और एक पुरानी लालटेन और अंगीठी उसकी गृहस्थी को पूरा कर देती थीं। बस इतनी ही थी सरगोचे जिले के उस खुशहाल किसान की पूरी दुनिया और उसके सम्मुख था भविष्य का गहन अंधकार। अभी चंदेक दिन पहले वह एक खुशहाल, बाढ़-जत, ईमानदार इंसान था जिसके यहाँ सैकड़ों मन नाज होता था, जो सालहा साल उसकी खतियों में भरा रहता था और किसी भी प्रकार खत्म होने में न आता था, जिसके पास सात-आठ जानवर थे, एक साफ-सुथरा बड़ा-सा मकान था, एक चौद-सी बीवी और दो फूल-से बच्चे थे, खुशी थी, अमन था और उसकी अपनी जन्नत थी। इन आठ जानवरों में चार बड़े-बड़े, ऊँचे, मजबूत बैल थे—और दो भैंसें और घी दूध इतना होता था कि वह उसे खाकर चुका न सकता था; बच्चे जितना दूध चाहते थे पीते थे और उसकी अपनी नज्गों के सामने खेलते रहते थे। इतना संतोष जब तक जीवन में न हो तब तक भला वह क्या फले-फूलेगा? लेकिन पलक मारते-मारते क्या हो गया कि वह आज भील का मुहताज हो गया था। वह यह किसी भी प्रकार समझ ही न पाता था—स्वर्ग से गिरकर मर्त्यलोक में आना सहज नहीं है। जिस गाड़ी में वह आया था उसमें उसी प्रकार के और भी पंद्रह सौ भाग्यहीन थे जो अब दुनियाँ में सच्चे अर्थों में सर्वहारा थे। सबके चेहरों पर मौत की एक-सी छाया थी जो बता देती थी कि इस व्यक्ति के लिए जिंदगी और मौत के बीच कोई अंतर नहीं बचा है। एक लंबी, बेतरतीब कतार में मुलखी धीरे-धीरे स्टेशन के बाहर के रास्ते की

और चल रहा था और उसकी दोनों लड़कियाँ दोनों तरफ उसकी कमीज का दामन अपनी जान की सारी ताकत से पकड़े हुए थीं—अब कुछ नहीं था बाकी उनके लिए। और उन नन्हें बच्चों की जान की ताकत ही थी, शायद, जो उसे यहाँ तक ले आयी थी, वना वह जरूर अब तक अपने साथ किये गये जुल्मों का बदला लेने की नाकाम कोशिश में खत्म हो गया होता। अभी भी वह यकीन नहीं कर पाता था कि वह अपने बाप-दादों की सरजमीन से उखाड़ फेंका गया है और उसका अब अपने उस स्वर्ग से कभी कोई रिश्ता न रहेगा और एक अजनबी जगह में उसे अपनी दुनिया नये सिरे से बनानी पड़ेगी। इन पिछले डेढ़-दो महीनों में उसने जो असह्य यातनाएँ सही थीं उससे वह एकदम टूट गया था। उसमें अब न तो मानसिक शक्ति थी, न शारीरिक। कितनी चिंता और व्याकुलता के दिन उसने बिताये थे ! संध्या के झुटपुटे में जब वह रेलवे स्टेशन से बाहर निकला तो उसे एक अजीब प्रकार का संतोष हुआ। उसके मन पर से बोझ उतरने-सा लगा और उसे तंद्रा आने लगी। उसके शिथिल हो रहे हाथ-पैर और भी शिथिल हो गये। और इसके थोड़ी देर बाद, एक अदमनीय उत्साह और सद्भावना का जागरण उसके अंदर होने लगा। वह यकीन भी न कर सका कि उसमें यह परिवर्तन क्यों आ रहा है। पुरानी स्मृतियों को वह भूलने की चेष्टा कर रहा था, पर वे इतनी भयावनी थीं कि उनको भूलना संभव न था। रह-रहकर वे उसके कलेजे में टीस उठती थीं और उसके अंग-अंग में एक सिहरन पैदा होती थी और फिर स्नायुओं की एक कमजोरी जो उसे एकदम शक्ति-हीन कर देती थी। स्टेशन से बाहर निकलकर वह थोड़ी देर के लिए ठहर गया, पोटली सिर पर से उतार दी और तनकर लंबी-लंबी साँसें खींची और फेफड़ों को ताजी हवा से भर लिया और अभी तक जो डरावना सपना देख रहा था उसे भी दिगाग से भँभोड़कर निकाल फेंका। लेकिन वह कैसे भूल जाय कि उसके साथ क्या-क्या जुल्म किये गये हैं, किस तरह उसके बाप दादों के उस गाँव में जहाँ अपने समयस्को में वह अपनी ताकत, अपने चरित्र, अपनी दयानतदारी और भलमंसी के लिए प्रसिद्ध था उसका घर जला दिया गया ; कैसे भूल जाय कि यह चेष्टा की गयी कि उसे, उसकी दो बच्चियों को तथा उसकी फूल-सी खूबसूरत और खाँड-सी मीठी दौलत को उसी घर में और उसी के साथ जलाने की कोशिश की गयी ? जब वह जी-तोड़ कोशिश के बाद उस घर में से निकलने में और अपनी बीवी और बच्चों को निकालने में कामयाब हो गया तब किस बेरहमी से उसकी बीवी को उससे अलग किया गया कि आज तक उसका कोई पता उसे नहीं है। यह सब ऐसा तजुर्बा था जिसे मुलखी न सिर्फ इस ज़िंदगी में न भूल सकता था बल्कि अगली चार ज़िंदगियों तक में भी नहीं, अगर उसे पिछली ज़िंदगियों की बातें याद रहें तो। यह तजुर्बा उसकी बची हुई

अकलंक मेहता

जिंदगी को तलख करता रहेगा और जितने दिन भी वह जीयेगा उसे चैन और शांति नसीब न होगी। क्या करे वह इन सब अत्याचारों का बदला लेने के लिए ? बार-बार उसके हाथ की मुट्ठियाँ बँध जाती थी, दाँत भिंच आते थे—काश कि वह मजा चखा सकता उन मालों को ! उसका इतना भारी भटकम डील-डौल उसके किसी काम न आया और इस बात से वह बहुत ही लज्जित और क्रुद्ध था। लेकिन अगर शांत होकर सोचता तो उसे मालूम हो जाता कि इस प्रकार के सामूहिक अत्याचार के सामने एक अकेला व्यक्ति, चाहे वह कितना ही बलवान् क्यों न हो, कुछ नहीं कर सकता। वह सोचता कि अगर वे सचमुच मर्द थे तो उनको एक-एक करके उससे लड़ना चाहिए था। और उसकी समझ में यह मर्दानगी भी न आती थी कि उसके बच्चों और उसकी जनानी पर जुल्म किये जायँ। जनानी तो सबके होती है ; अगर इस तरह उनकी जनानियों के साथ जुल्म किया जाय तो...और इस ख्याल से उसके रोंगटे खड़े हो गये और उसका मुँह धृणा से विकृत हो गया। और अब जब वह इतनी सब यंत्रणा, इतना सब-कुछ केलकर एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचा है तब उसकी दौलत कहाँ है ? दौलत का ख्याल आते ही वह अपने को काबू में न रख पाता था, उसका दिल यही चाहता था कि वह फिर उन्हीं सब जगहों में जाय जहाँ से होकर वह यहाँ तक पहुँचा है और अपनी दौलत को तलाश करके ले आवे, वना जीने का उसे कोई हक नहीं है—नहीं, कुंती और गौग के लिए भी नहीं। उसने निश्चय भी यही किया था—और केवल उसका यह निश्चय ही था जो उसे टिकाए हुए था—कि जैसे ही वह थोड़े इतमीनान से हो लेगा और पड़ोसियों के भरोसे इन दोनों लड़कियों को छोड़कर जा सकेगा वैसे ही वह दौलत की खोज में चल पड़ेगा और अगर वह न मिली तो जीने से फायदा ही क्या—लेकिन तब की बात उसकी कयास में भी न आती थी। उसे न जाने क्यों यह यकीन था कि वह दौलत को जरूर वापस पा जायगा—स्वार्थ का विश्वास—कि दुनिया की कोई ताकत उसे उसकी दौलत से जुदा नहीं कर सकती।

इतनी देर तक ताँगे के इंतजार में खड़ा वह यह सब सोचता रहा। एक ताँगा उसे खाली दीख गया और पिंड फिरोजों का किराया चार रुपया तै करके वह उन दोनों बच्चियों को अपनी दोनों तरफ बिठाकर चल पड़ा। मौसम बड़ा ही लुभावना था और इस प्रदेश की शांति और हवा की खुशबू और ठंडक तथा चारों ओर छापी हरियाली ने उसमें उत्साह भर दिया, एक जोश—जीने का जोश—और वह जोर-जोर से फेफड़ों को बार-बार भर-भरकर गाने लगा और उसकी भारी, मर्दानी लेकिन दर्दभरी आवाज से फिजाएँ गुँज उठी और उसका दिल हल्का हो गया। ताँगेवाले से भी उसने दो-चार बातें की और फिर चुप हो रहा। गाँव की कच्ची चौड़ी सड़क के किनारे जब लालटेनों की रोशनी दिखायी देने लगी तो वह समझ गया कि वह अपने ठिकाने पर पहुँच गया

है। यहाँ उसका रिश्ते का एक मामा रहता था और उसी के सहारे वह यहाँ तक आया था। अपने बचपन में वह कई बार यहाँ आया था। पूरा रास्ता जैसे इस वक्त उसके दिमाग में घूम रहा था। मामा की ड्योड़ी पर जब वह पहुँचा तो उस मामा को उसे पहिचानने में तनिक भी खिन्त न हुआ। उसने दौड़कर मुलखी को गले से लगाया और 'मुलखू मुलखू' संबोधन करके बड़ी देर तक सांत्वना दी—वह उसे मुलखू ही पुकारता था। मुसीबत के वक्त अपना नफा-नुकसान देखनेवाले जलील इंसान थोड़े ही होते हैं। और इसके अलावा उसके पास खाने की कोई कमी न थी। मुसीबत के वक्त भी नाते-रिश्तेदार काम न आये तब कब आधेंगे ?

मामा हरदत्त ने जब मुलखी की जबानी उसकी दास्तान सुनी तो वह अपने दालान में अकेले न थे। गाँव के और भी बुजुर्ग वहाँ इकट्ठा थे। उन लोगों ने मुलखी के साथ हमदर्दी की और फख के साथ उसके धावों पर यह मरहम भी लगाया कि अपने पिंड में से मुसलमानों को उससे कम तकलीफ पहुँचाकर, कम जलील करके उन्होंने नहीं निकाला। मुलखी को उनका मशकूर होना चाहिए और समझना चाहिए कि उसके आँसू पुछ गये। उन लोगों ने और आगे बताया कि उन मुसलमानों के घर जला दिये गये और उनमें से कितने मौत के धाट उतार दिये गये इसका कोई हिसाब उनके पास न था। मुलखी को भी अपने हिंदू भाइयों पर फख हुआ—जिंदगी में पहली बार उसने जाना कि वह हिंदू है—गो वह समझ नहीं पाता था कि उसमें और उसके पुराने साथियों गुलाम, गाजी, साधिर और महमूद में क्या फर्क था। उसका सीना चौड़ा हो गया, पेशानी ऊँची हो गयी, और वह इतमीनान की साँस लेने लगा। लेकिन कुछ भी हो जाय, उसकी दौलत जब तक नहीं मिल जाती वह चैन नहीं पायेगा। वह ऐसी दुखती रग थी जिसका दर्द अनजाने में भी बराबर होता रहता था। उसने इसके बारे में मामा से सलाह पूछी। मामा ने कहा कि ऐसे वक्त जान जोखिम में नहीं डालना चाहिए। जो एक बार बचकर आ जाय उसे तो फिर हर्गिज-हर्गिज अपनी जान दोबारा खतरे में न डालनी चाहिए। लेकिन मुलखी के गले के नीचे यह बात न उतरती थी। उसकी जिंदगी की सारी खुशी, सारा चैन जैसे गायब हो गया था। फिलहाल, मामा ने कहा, तुम पहले खेती का इंतजाम कर लो, जब जरा दम ले लोगे तब सोचेंगे। मुसलमान जो जमीन छोड़ गये थे उसमें से थोड़ी-सी गाँव के बड़े-बूढ़ों ने मुलखी के लिए ठीक कर दी और वह जाकर जमीन देख भी आया। उसे एक मुसलमान का घर भी दे दिया गया। यह घर और घरों से कम जला था और दिन-रात एक करके जल्दी ही उसने उसके ऊपर का फूस का छपर ठीक कर लिया। तब उसने खेतों की ओर ध्यान दिया। फसल बोने का वक्त करीब था, लेकिन उसके पास न हल था, न बैल, न बीज। मामा ने उसकी मदद की और वह एक बार सारी जमीन में हल चला आया। फिर उसने

बीज भी डाल दिये—खेत अच्छी तरह तैयार न हो पाया था, लेकिन इस वक्त अच्छा और बुरा सोचने का मौका न था, किसी तरह फ़सल तैयार करनी थी, वरना उसे भूखा मरना पड़ जायगा। काम की इस भीड़ और अपने जोश के उफ़ान में वह दौलत की बात भूल चला था—वह ऐसा दर्द था जो निरंतर होते रहने के कारण भुलाना ही पड़ता है, यदि जीवित बचना है तो—लेकिन काम से उसे जैसे ही दम मारने की फ़ुर्सत मिली कि वह फिर दुगुनी, चौगुनी और सौगुनी तेजी से होने लगा यहाँ तक कि वह अब उसे बर्दाश्त न कर सकता था। बेचैनी की वजह से उसे नींद न आती और लगता कि उसके लिए सब कुछ ख़त्म हो गया है। नहीं, अब वह और अकेले जीना नहीं चाहता। ऐसे जीने से क्या फ़ायदा कि जब वह जानता है कि दौलत कहीं पड़ी कराह रही होगी या मार डाली गयी होगी। नहीं, अब वह और चुप नहीं बैठ सकेगा। मामा से उसने फिर बात की। उन्होंने लाचार होकर सलाह दी कि लाहौर की तरफ न जाकर नीचे जालंधर की तरफ जाय और वहाँ शरणार्थी-कैम्प में दौलत को तलाश करे। यों बिना पता-ठिकाना पाये दर-दर की खाक तो छानी नहीं जा सकती। मामा ने और भी बताया कि जालंधर के कैम्प में सरगोढे, रावलपिंडी और कैम्बेलपुर जिलों से हजारों की तादाद में लोग पनाह ले रहे हैं और अगर मुलखी की किस्मत में है तो जरूर ही दौलत उसे वहाँ मिल जायगी।

मुलखी गाँव से चल पड़ा। रास्ते का बड़ा हिस्सा उसने शरणार्थियों को ले जाने-वाली मोटर-बसों में तै किया। दूसरे दिन शाम को वह जालंधर के शरणार्थी कैम्प में जा पहुँचा। आदमियों, बच्चों, औरतों का इतना भड़ा हुजूम; और इतने डरे हुए, सहमे हुए, गुस्से से और नफ़रत से बिगड़े हुए चेहरे उसने कभी देखे तो थे ही नहीं, क़यास भी नहीं किया था। वे लोग जिस तकलीफ़ में ज़िंदगी बिता रहे थे वह अलमज़ में घयान नहीं की जा सकती। कई लोगों से उसने बातें भी कीं और उनके दुःख-दर्द की कहानी में वह अपना दुःख-दर्द भूल गया। इतनी बड़ी मुसीबत के सामने उसे अपनी तकलीफ़ और दर्द हल्का लगने लगा। और उसने महसूस किया कि वह इस जुल्मो-सितम को सहने के लिए अकेला नहीं है। सारी खिलक़त है जो उसी की मानिंद मुसीबतजदा है। रात को चुपचाप सायबान के एक कोने में पड़कर कब सो गया उसे याद नहीं है। इन सब कहानियों को सुनकर, चारों तरफ की रोने-कराहने की आवाज़ से जैसे उसका दिमाग़ थक गया था और चक्कर खा रहा था। रात-भर नींद में भी, उसके कानों में हल्के हल्के कराहने और सिसकने की आवाज़ आती रही।

सुबह उठकर फिर उसने अपनी तलाश शुरू की। उसे अपने जिले के कुछ लोग मिल गये और वह करिश्मा हो गया जिसके सपने देखने में वह इन दो महीना से अपना सारा दुःख-दर्द भूलता था। उन लोगों ने बताया कि दौलत इसी कैम्प में है और कम-से-कम ज़िंदा है। आज इससे ज्यादा बड़ी कोई खुशकिस्मती उसके लिए नहीं हो सकती।

इससे ज्यादा मुलखी और कुछ नहीं चाहता। उन लोगों की ज़बानी यह भी मालूम हुआ कि दौलत बहुत बुरी हालत में है—सेहत गिर गयी है और बहुत दुःखी है।

शरणार्थी कैप के जिस सिरे पर दौलत का पता दिया गया था मुलखी उधर ही बड़ी तेजी से चल पड़ा। उसके दिमाग में इस वक्त अपनी प्यारी बीबी के ख्याल के सिवा और कुछ न था। वह उसे मिल जायगी, महज इस ख्याल से खुशी के मारे वह पागल हुआ जा रहा था। वह जानता था कि ये औरतें जो इतने दिनों तक गायब रही थीं बड़े-बड़े जुल्मों और बेइज्जती का शिकार बनायी गयी थीं—न जाने कितने जानवरों की हविस का शिकार। लेकिन दौलत के खिलाफ वह एक लपज भी शिकायत का न सुनना चाहता था। वह जैसी भी थी, जिस हालत में भी थी, सारे जुल्म और बेहुर्मती के बावजूद, उसी तरह उसे कुबूल थी जैसी कि वह शादी की पहली रात को थी जब उसने पहली बार उसे अपनी मजबूत लंबी बाँहों में जकड़ लिया था। वह अपनी जिंदगी की सारी खुशी के लिए, और वह भी इतनी कि बारहा वह उस खुशी से घबरा जाता था, दौलत और सिर्फ दौलत का शुक्रगुजार था—भगवान का भी नहीं। और आज वह जीता बच रहा था तो महज इस लमहे के लिए जब वह उसे अपने कलेजे से लगा लेगा। सारी खूँरेजी, भूख, जलन, बेइज्जती, तकलीफ और परीशानी के ऊपर भी एक चीज थी जिसे मौत भी शायद ही उससे जुदा कर सके और वह थी उसकी अपनी बीबी के लिए मुहब्बत। मुलखी उससे बेवफाई करे, या महज बेवफाई का ख्याल लावे तो जानत है उसकी जिंदगी पर! इन्हीं ख्यालों में डूबा वह कब कैप के दूसरे सिरे पर पहुँच गया, यह वह देख न सका। नजर उठाकर जब उसने देखा तो सामने दूर पर एक नारी मूर्ति को खड़े पाया जो शायद उसी की ओर देख रही थी। वह ठिठक गया। क्या यह दौलत ही थी? पहचानना इतना आसान न था। पर उसी क्षण न जाने कैसे उसके पैरों की गति तेज हो गयी और वह दौड़कर उस नारी-मूर्ति के समीप पहुँच गया और वह भी कदरे दौड़कर उसकी बाँहों में आ रही। मुलखी की मारी मुगदें बर आयीं, दौलत को उसकी जन्नत नसीब हुई और वे अपने उस नए घोसले में आ पहुँचे जिसमें जिंदगी के बाकी दिन—अगर बाकी हैं तो—उनको गुजारना थे।

अक्टूबर का महीना था, हवा में नमी थी, खुन्की थी, फिजा में एक मदहोशी जिसका नशा किसी को भी पागल किये बगैर न छोड़ता था। खेतों में गेहूँ के छोटे-छोटे पौधे सारी जमीन को एक हरे मखमल का-सा ढुल्ल बख्श रहे थे और आसमान से भी खून और जुल्मो-सितम की लाली गायब हो चुकी थी। जिंदगी ने मौत पर फतह पायी थी और लोग अब अपने-अपने काम में लग गये थे और दंगे फसाद के पुराने किस्से कहने-सुनने में किसी को कोई लुफ्त न आता था। वह एक ऐसा जिक्र था जिससे हर किसी को नफरत होती थी क्योंकि वह उनको एक निहायत ही डरावने और तकलीफदेह

अकलक महता

मपने की याद दिलाता था। क्या है जिंदगी में जो जिंदगी की लौ को खत्म कर दे ? हजारों सदियों की मौत ही कोशिश उस लौ को अगर गुल न कर सकी तो इन छोटी मोटी इंसानी बदकारियों की क्या विमात ! जिंदगी फिर पूरे उफान के साथ, पूरी तेजी के साथ, पूरे जोश के साथ चल पड़ी।

दौलत और मुलखी, कुंती और गौरा और इनके जैसे ही असंख्य और मुलखी-गौरा-दौलत-कुंती अपनी जिंदगी में फिर वापस आ गये थे—असंख्य ऐसे भी अभी अवश्य थे जो शरणार्थी कैदों में और दूसरों की कैद में बंद थे, नरक से भी ज्यादा यातनाएँ भेल रहे थे लेकिन उससे क्या ? आज नहीं तो कल, शायद आज ही, वे भी मुक्ति पावेंगे और अपने जीवन में संतोष की सांस लेंगे। उनका जीवन भी फिर अविगम गति से, उदाम वेग से बह निकलेगा और यह जो एक दूसरे के प्रति कड़वाहट का दलदल था उसमें से निकलकर वे एक नवीन स्फूर्ति के साथ, नवीन उत्साह के साथ जीवन में प्रवेश करेंगे और मानवता में एक नये विश्वास का उदय होगा, जीवन के प्रति एक नयी आस्था जैसे बीच-बीच में इस आस्था और विश्वास का पुनरावर्तन अनिवार्य हो।

मुलखी रोज सुबह खेत पर निराई करने चला जाता। बाद में दौलत उसके लिए लस्सी और नाश्ता लेकर पहुँचती, दोनों लड़कियाँ साथ होतीं। फिर वहाँ दस ग्यारह बजे तक वे दोनों साथ ही काम करते और तब दौलत दोनों लड़कियों को लेकर रोटी बनाने घर लौट आती। दोपहर को मुलखी खेत पर से लौटता, वे साथ ही खाना खाते। यह उनकी सुबह की दिनचर्या थी। शाम भी कुछ इसी तरह बीतती—काम, खाना पीना, और फिर आराम। इससे अधिक वे कुछ नहीं चाहते, कोई कुछ नहीं चाहता—और मुलखी अब धीरे धीरे और दौलत तेजी के साथ एक सामान्य प्राणी की भाँति होते जा रहे थे। आराम और सुख के कुछ ही दिनों ने दौलत के जिस्म की ऊबड़-खाबड़ हड्डियों को खूबसूरत गोरे मांस से भर दिया और फिर वह अपनी पुरानी गदराहट और स्वास्थ्य को वापस पा गयी। अवश्य ही उसके गाल अभी उतने सुर्ख न थे जितने कि पहले थे और मुलखी को अगर दुनिया में कोई फिक्र बच रही थी तो यही कि कैसे वह सुर्खी उसके गालों पर वापस आ जाय।

उस दिन सुबह वह जब खेत पर पहुँची तो दोनों ने नाश्ता किया। तब मुलखी ने पूछा, 'और लड़कियाँ कहाँ हैं ?'

'वे पीछे-पीछे आ रही थीं, आती ही होंगी। लस्सी उन दोनों ने घर पर ही पी ली थी, अब उनको क्या फिक्र।'

इस सवाल से मुलखी ने यकीन कर लिया कि लड़कियाँ कहीं पास नहीं हैं। आज वह अपनी एक बड़ी गुप्त बात जो कहना चाहता है। दौलत भी काम में लगी। मुलखी उसके भरे हुए सुडौल जिम्म की तरफ बड़ी देर तक एकटक देखता रहा यहाँ तक कि

वह शर्मा गयी। तब मुलखी आँखों में एक शरारत भरी हँसी लिये हुए बोला, —और जो वह कहने जा रहा था उसे दौलत की तीक्ष्ण बुद्धि ने पहले ही भाँप लिया था पर वह अनजान बनी रही—'मैं कहने लगा था कि अब तुमको बहुत-से बच्चे पैदा करने चाहिये, अब तो तुम तंदुरुस्त हो गयी हो। और बच्चे सभी लड़के हों। और हमारा एक-एक लड़का दस-दस मुसलमानों को मारकर आये तब कहीं हमारा बदला चुके।'।

इस अंतिम वाक्य को सुनकर दौलत चौंकी। वह लड़के दुनियाँ में लावे इस बात से उसे इनकार न था, लेकिन एक-एक लड़का दस-दस मुसलमानों की जान ले यह किसी भी प्रकार उसके गले के नीचे न उतरता था। और वह सोच में पड़ गयी। लेकिन उसने अपने चेहरे की चमक और रोशनी मद्धिम नहीं पड़ने दी। शर्म से वह लाल हो आयी और गर्दन उसकी अपने-आप झुक गयी।

‘ऐसी बात भी भला करते हैं ! तुम कितने बेशरम हो !’

मुलखी सोचता है कि वह बेशरम भले ही हो सकता है लेकिन अपने ऊपर किये गये जुल्मों का बदला लेना ही होगा। आप भी शायद ऐसा ही सोचते होंगे। ऐसा सोचने का शायद आपको हक भी है। पर बदला किससे, किस बात का ? अपने आपसे कौन बदला ले सका है ?

माता वसुंधरा फलवती हों यह हम सबकी प्रार्थना है ; पर उनकी ही एक संतान उनकी दूसरी संतान की हत्या कर डाले यह वे कभी सहन न कर सकेंगी।

हम जो इस दलदल में फँसे हैं उससे बाहर कैसे हों ? यह दलदल जो बदले की भूल की शक्ल में हमको चारों ओर से जकड़े हुए है कि जिसके बाहर निकलना असंभव हो रहा है और लगता है कि हम इसी में फँसकर मरेंगे। हम घबराकर सोचते हैं, हम इससे बाहर कैसे निकलें ? कैसे ? ओः कैसे ?

लेकिन दलदल कितना भी बड़ा हो, कितना भी दुरूह हो, मनुष्य उस पर सदा से विजय पाता आया है। और आज हम इस दलदल के बाहर निकल रहे हैं। मुलखी की जीवन के प्रति इतनी बलवती, अदम्य लालसा ; दौलत की एक नये पीढ़ी के जन्म देने की तैयारी क्या इस बात का सुबूत नहीं है कि हम इस भयावने दलदल से निकल आये हैं ?

शीतलासहाय श्रीवास्तव

वासना

मधुमृतु निशीथ मे
गौरमुखी ज्योत्स्ना
छहरी छिटक-छिटक
भूतल विशाल पर
बहाँ पर प्रणय अंग
निर्बन्ध गंध मुग्ध
मधुप रिभाते थे
मधुर स्वर तान से
मालती-मुकुल के
ससंकोच उर-प्राण ।
अंबुधि में तरंगों का
होता था अभिसार
जहाँ पर चुपचाप
कलित कलाधर
उतर आकाश से
छिपे-छिपे खेलते थे लहरों के संग-संग
जिनके थिरकते थे यौवन में अंग-अंग ।
आम्र के भुरमुट में
बहता था मलयवात
कंपगात शिथिल-शिथिल
सौरभ से स्नात मधुर
उसी समय निभृत से एक नील कुंज में
वासना विलासमयी
रानी बनी रूप की
जो कि भ्रू-चाल से
हगमग करती थी

संयमित तपियों का
तेजपुंज सिद्ध मन ;
जिसके कि एक-एक
प्रतनु कटि-लोच पर
विश्व हैरान था ;
बैठी थी सँवारे हुए
वेणीमय केश-राशि
जिससे सरक-सरक जाती थी चूनरी ।
लोचन बड़े-बड़े
आतुर से देखते थे
पथ एक पांथ का
जो कि कलांत उद्भांत
बढ़ा चला आता था
वासना की ओर ही ।
देख वह वासना को
आनंद विभोर हुआ
भूला सब पथ-क्लांति
मिली एक विभ्रांति
बोला 'तुम, वासने !
कब से यहाँ बैठी हुई ?'
वासना मनोरथ का
प्रश्न यह सुनकर
लज्जा से आनत हो
कोमल करी से
चूनरी सँभालकर
बोली, 'प्रिय नाथ !

मुझको प्रतीक्षा थी
 तुम्हारे आगमन की
 मेरे इस जीवन के
 यौवन के प्रथम-प्रवेश से ही,
 फिर भी इस कुंज में
 बैठी दो घड़ियों से ।'
 इसी भाँति चल पड़ा
 उनका मधुर-मधुर
 प्रणय का व्यापार
 मधुमय हुए चरण चार
 आलिंगन विचुंवन हुए ।
 इसी मधु-प्रवाह में
 बोल उठी वासना
 'मनोरथ ! तुम प्यार मुझे
 करते हो कितना ?'
 बोला मनोरथ—
 'प्यार तुम्हें ! प्रिये, मैं
 अपने इस जीवन से
 अपने इस यौवन से
 मादक इन प्राणों से
 करता हूँ प्यार अधिक ।'
 'तो कैसे मैं जानूँ ?'
 प्रश्न फिर हुआ यह ।
 'तो क्या मैं सिद्ध करूँ
 कहो जो वही करूँ ।'
 खींच एक निश्वास
 बोला मनोरथ भी ।
 कहा फिर वासना ने
 'प्राण ! मैं दुखी हूँ
 एक इस बात से,
 जब मैं विरह मग्न
 बैठी थी बाट में

तुम्हारे आगमन की
 उसी समय तारक आकाश के
 हँसते थे खिल खिल
 मेघों की ओट में ।
 गंध लुब्ध मधुम ये
 गाते थे प्रणय-गान
 कितना था अभिमान !
 मेरी उपेक्षा कर
 कलियों का मुख चूम
 उड़-उड़ जाते थे छलिया ये छोड़कर
 सुकुल-समूर भी
 सौरभ से सना हुआ
 खोल पंखुड़ियों के
 दसक देखा था
 मुझ पर, मेरी उस दशा पर ।
 कोमल लतायें ये द्रुम-वृक्षरियों से
 लिपट-लिपट थीं निहाल
 गरस-आलिंगन में
 जब कि मैं अकेली ही
 कामना से खेली थी
 कि आर्येण प्राण कब ।
 कोयल की कूक ने
 हूक भरी मेरे इस सुनसान उर में ।
 अग्नि सुलगायी थी
 ऋतुपति वसंत ने
 मेरे इन प्राणों में
 इसीलिये चाहती हूँ
 प्राण ! इस वसंत का
 सारा हो दर्प चूर,
 प्रकृति अभिसारिका का
 जीवन-सुहाग का
 प्रणय-अनुगम का

शीतलासहाय श्रीधाम्तव

छुट-छुट जाये माये का सिंदूर ।
 ऐसी उठे लपट
 कि झुलस उठें कलियाँ,
 वल्लरियाँ, द्रुम लतायें चार ।
 भौंरो के पंख ये
 दूट गिरें अशरण ।
 तारे आकाश के
 धूम्र से आच्छन्न
 बुझते मे जान पड़ें,
 पिंजाल मरीचिकायें
 भय आसन्न से
 क्षितिज में तिरोहित हों ।
 कामना यह पूरी करो
 मेरी तुम प्राण ! आज ।

× × ×

मनोरथ ने सौँम ली
 सुन कर निःस्वन ।
 प्रणय-आवेश में
 मधुमय प्रदेश में
 मदमत्त भूला वह
 भूत या भविष्य सब,
 गति थी विलीन हुई
 सुंदरी के नाट्य सुलभ
 मंदिर हाव-भाव में,
 नयन-कटाक्ष में ।
 बोला सरोष वह
 'प्रिये, इस इच्छा को
 करूँगा अवश्य पूर्ण,
 वसंत का दर्प नया
 उसको ही करूँगा चूर्ण ।
 तभी सब संभव है
 ज्ञापना यह सुख-भोग ।'

इतना कह चल पड़ा
 मनोरथ हिमाचल की
 तुपागवृता शीतल
 शैल कंदरा की ओर
 छोड़ वासना को
 उसी नील कुंज में ।
 तप में हुआ लीन
 भूल कर विश्व के
 जीवन का राग-द्वेष
 युग भी क्षणों से
 अतीत में हुए विलीन,
 कृश हो गया गात
 रुधिर-मांस सूख गया,
 पर हुई आत्मा पावन तेजस्विनी ।
 सफल हुई साधना
 मिद्धि मिल गयी उसे ।
 नयन तरेरकर
 देखा इस विश्व को
 वसंत को, प्रकृति को
 फूटीं किरणें प्रतप्त
 ज्वालामयी आँखों से ।
 ऋतुपति वसंत का
 लीलने लगीं शरीर
 नागिन-सी लपटें तप्त,
 प्रकृति दुलारी का
 भाँय-भाँय जलने लगा
 भव्य प्रासाद चार ।
 उपवन ये, कानन ये
 जलने लगे अमंद ।
 कोमल शिरीष-द्रुम—
 वल्लरी-लता सकंप
 झुलसने लगीं भयभीत

आहि आहि मच उठी
 प्राणी-संसार में ।
 मनोरथ की एक-एक
 ध्वंसमयी मुसकान
 ज्वाला के छोड़ बाण
 भस्म कर देती थी
 कलियों के सांद्र प्राण ।
 सभी जब जल गया
 प्रकृति-रूप ढल गया
 उठा तब मनोरथ
 चल पड़ा वासना—
 के आवास-पथ में ।
 देखा क्या उसने
 वासना का सागर गृह
 भस्मीभूत हो गया,
 ध्वस से संव्रस्त

शयित प्राचीरों थी
 जिनमें थी धूम्र की
 कालिख लगी हुई
 उन्हीं के बीच में
 वासना का शव भी
 आधा जला हुआ
 हँसता या अपने ही
 जीवित दुर्भाग्य पर ।

× × ×

देख दुर्दशा यह
 मनोरथ का मन हुआ
 ग्लानि से परिपूर्ण ।
 लौट पड़ा हिमगिरि की
 कदरा को कहता हुआ
 'हाय ! आत्महंता मैं !'

—

म्युरियल वसी

नव भारत में अंग्रेजी साहित्य का स्थान

बुद्धि को परास्त करने वाले पूर्वग्रहों और वैमनस्यों में कदाचित् सबसे गहरा और दुःसाध्य वह है जो कि किसी भाषा के प्रति और परिणामतः उसके साहित्य के प्रति, द्वेष पर आधारित हो। हमारे देश में आज जो सैकड़ों व्यक्ति अंग्रेजी भाषा को उन्मूलित कर देने पर तुले हुए हैं, उनमें कम ही ऐसे होंगे जो कि स्वयं उस भाषा से ही धृष्टता कर सकते हों। क्योंकि अंग्रेजी एक आद्वितीय अर्थज्ञान, मर्मस्पर्शी और संतोषजनक भाषा है। मानवीय व्यक्तित्व की बदलायी हुई मनोवस्थाओं को वह सुगमता और स्पष्टता से व्यक्त कर सकती है, और उस में भितकथन और संयम का गुण है जो वास्तव में उस जाति की विशिष्ट प्रतिभा है जिसने की वह भाषा वर्गीयता में पायी है। यह सब होते हुए भी अंग्रेजी के विरुद्ध हमारे देश में इतनी तीव्र भावना है कि अगर कोई उसके पक्ष में कुछ कहना चाहे तो न केवल वह मान लिया जायगा कि इसमें उसका कुछ गूढ़ स्वार्थ छिपा है, वरन् उसे तुरन् ही 'राष्ट्रीयता-दूत भारतीय' घोषित कर दिया जायगा—आज कल यह आरोप बड़ा आसानो से उन सब लोगों पर लगाया जाने लगा है जो एशिया से बाहर की किसी भी भाषा से साधारण सा भी परिचय रखते हैं।

रूढ़ि की रूढ़ता अथवा पूर्वग्रहों की जकड़ की गहराई की अनदेखी कैंविका नहीं करती। अतः वह तनिक भी आशा नहीं करती कि वह किसी का मत परिवर्तित करने में सफल हो सकेगी। यहाँ वह केवल यही चेष्टा करेगी कि बुद्धि और युक्तिसंगत आधारों पर यह निरूपित करे कि अगली चौथाई शती में भारत में अंग्रेजी साहित्य का स्थान क्या होगा। उस साहित्य की संभाव्य प्रवृत्तियों की भी पूर्वकल्पना वह करेगी। उसका अचूक होने का दावा कदापि नहीं दे। संभव है कि उसका अनुमान अंशतः या पूर्णतः गलत हो, या वह केवल इच्छा-विशगामी ही हो। जो हो, नये भारत में अंग्रेजी साहित्य का जो भविष्य उसे दीखता है उसी का वह नीचे वर्णन कर रही है।

अंग्रेजी साहित्य हम लोगों के साथ ही नहीं मर जायगा। भारत में आज जो लिख रहे हैं, या जो पचीस वर्ष बाद भी लिख रहे होंगे, वे अंग्रेजी का सहारा प्रथम भाषा के रूप में सही, कम से कम इसलिए लेंगे कि वह सृजन और कल्पना, आलोचना और समीक्षा के लिए उपयुक्त और समर्थ माध्यम है। हम—१९४८ के शिक्षित भारतीय—एक विशेष अर्थ में पिछले दो सौ वर्षों के साहित्यिक फल हैं। उन वर्षों को भिटा देने का निश्चय हम भले ही कर लें, पर वे फिर भी बचे ही रह जायेंगे क्योंकि वे हम में गहरे

कहीं जा बसे है जहाँ उन्हें घातक हाथ या बुद्धियाँ छू न सकें। वे बर्ष, और उनसे संबद्ध प्यार और घृणा, रोष और कुंठाएँ, अंतर्द्रोह और अनिच्छापूर्ण प्रशंसाएँ—वहीं गहरे में ये सब बने रहेंगे, उन्मूलन का हठपूर्वक विरोध करते हुए। हम आगे भी अंग्रेजी में लिखते रहेंगे—पहले से गर्हणीय दिखावे के साथ नहीं, उस अनिवार्य विवशता के साथ नहीं जिसे हम पहचानते और स्वीकारते भी ये और घृणा भी करते थे—तब इसलिए कि साहित्य की उस विश्व-प्रगति के साथ चल सकने का यही एक उपाय हमारे पास है और हम में जो आने को आधुनिक या समकालीन मानना चाहते हैं उन्हें उस प्रगति के साथ चलना ही है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी तक हम जायेंगे वैसे नहीं जैसे आधुनिक अंग्रेज ग्रीक भाषा के पास जाता है—एक पुराण-भाषा के जो कि संस्कृति का चिरंतन स्रोत है। हम जायेंगे एक आधुनिक, समकालीन, नवीन भाषा के पास जिसमें भारतीय विचार, भावना और चेतना को चाहे वह किसी भी स्तर की स्थिति हो—अंतर्राष्ट्रीय प्रभार का और अंतर्राष्ट्रीय स्थायित्व पा सकने का अवसर मिले।

पाठक यह कह सकता है कि हमें अंतर्राष्ट्रीय साहित्य की चिंता नहीं है। या कि हम इतर राष्ट्रीय पाठक के लिए उत्सुक नहीं हैं; हम अपने ही उस महादेश के लिए लिखने में संतुष्ट हैं जिसकी वाणी दो सौ वर्षों के बोझ के नीचे रुद्ध है और जिसके महज मतोंभावों को कुचल कर या तो धिलकुल ही नष्ट कर दिया गया है या इस लुगी तरह कुंठित कर दिया गया है कि उन्हें फिर से खोजते और चित्रण करने सौ वर्ष लग जायेंगे। ठीक है, किंतु किस भाषा में अपने इस महादेश के लिए लिखा जायगा? दक्षिण हिंदी-उर्दू से परिचित नहीं है। उत्तर भारत गद्य और पद्य शैलियों की उन विशेषताओं से परिचित नहीं जिनके कारण द्रविड भाषाएँ उनके भाषियों के लिए तृप्ति और अभिमान का विषय बनी हैं। मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया, अपनी विशेषताओं अथवा संबंधों के बावजूद अंततः प्रांतीय भाषाएँ हैं। यह ठीक है कि विभिन्न प्रांतों के जीवन और विचारों का वैशिष्ट्य तत्तद् प्रांतीय भाषा को छोड़ और किसी में संपूर्णतया प्रतिबिम्बित नहीं होता; किंतु इन विशेषताओं को समूचे देश तक पहुँचाने के लिए उच्चकोटि की अनुवाद-कुशलता और दक्ष अनुवादकों के स्थायी मंडलों की आवश्यकता पड़ेगी और ये अभी हमारे देश में नहीं हैं।

इन और अन्य न्यूनाधिक महत्व के कारणों से प्रस्तुत लेखिका का विश्वास है कि आज भारत में जो लेखक अंग्रेजी लिखते हैं वे भविष्य में भी न्यूनाधिक मात्रा में अंग्रेजी में लिखते रहेंगे। इसमें तो संदेह नहीं कि भारतीयों द्वारा रचित अंग्रेजी साहित्य की पहले ही से स्वल्प मात्रा और भी कम हो जायगी, क्योंकि जब तक राष्ट्रीयता के दौए का शमन नहीं होता, राष्ट्रीयता का कीड़ा नहीं मरता, तब तक अंग्रेजी के प्रति व्यक्त और गुप्त विरोध मिट नहीं सकता। ऐसे साहित्य के भविष्य के विषय में महत्व की बात

न्यूरियल वसी

यह नहीं है कि उसकी मात्रा कितनी है—मात्रा तो कभी भी विस्मयकारक नहीं हुई न होगी—वरन् यह कि उसकी प्रवृत्ति किधर होगी ।

इतनी भविष्य वाणी तो सहज ही की जा सकती है कि विशुद्ध 'एंग्लो-इंडियन' साहित्य पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जायगा । संस्कृतियों का संपर्क, शासक और शासित जातियों के बीच भावों, भाषाओं और राजनीति का संपर्क—इन सबका वह महत्व आगे न रहेगा जो कि पहले था । अब हम इसे भारतीय जीवन की एक अनिवार्य समस्या के रूप में न लेकर एक ऐतिहासिक घटना के रूप में लेंगे - जो न तो इतनी दूर है कि रोमांस की सी रंगीनी उसको दी जा सके, न इतनी निकट ही कि हमें उस सात्विक रोष से भर दें जो कि आंग्ल भारतीय साहित्य में इतने रूपों में प्रकट होता रहा है । 'पैसेज टु इंडिया' जैसी पुस्तक दूसरी न लिखी जायगी—जो लेखिका की निजी सम्मति में दुःख की बात है । इसी प्रकार—एक दूसरा 'इंडिगो' अथवा 'माई इंडियन फैमिली' भी न लिखा जायगा—और यह शुभ ही है । और इसके लिए तो परमात्मा को धन्यवाद देना चाहिए कि 'कैंडल्स इन दि विंड', 'दि ग्रेट एमुलेट', 'हीनोरिया लारेंस' 'फादर ग्रेगरी' अथवा 'स्नेक एंड मोर्ड' जैसी और पुस्तकें न निकलेंगी, न इससे कुछ कम गहिरे ढंग का वह एंग्लो इंडियन साहित्य ही और बनेगा जो किपलिंग ने हमें दिया—'प्लेन टेल्स फ्रॉम दि हिल्स' अथवा 'किम' । ऐसा भी अनुमान होता है कि लुई ब्रामफील्ड के सहानुभूतिपूर्ण रोमानी उपन्यासों का, अथवा 'एडवर्ड टॉम्पसन के उससे अधिक मर्मस्पर्शी' (किंतु शाब्दिक अधिक स्थायी नहीं) साहित्य का भी युग सदा के लिये गया । यह सब अब पुगने गीत के शब्दों में 'गया, गया, गया' ! और गया हम भारतीयों की ओर से 'दू लौव्ज एंड ए वड' अथवा 'कुली' (मूलकराज आनंद) जैसी रचनाओं का युग भी—ये भी ऐतिहासिक कौतूहल की सामग्री भर रह जायेंगी । फास्टर की 'पैसेज टु इंडिया' को छोड़ कर—उस पुस्तक की ओर हम फिर भी बीती पराधीनता का स्मरण करनेवाली जाति की अनिच्छापूर्ण श्लाघा के साथ लौटेंगे—अन्य सब पुस्तकें अतीत की वस्तु हो गयी हैं ।

आंग्ल-भारतीय वैमनस्य की बात हम नहीं लिखेंगे, या बहुत कम लिखेंगे, और जब लिखेंगे तब कम कटुता और अधिक उदारता के साथ । और यह भी आशा करनी चाहिए कि अब हम उसका वह हास्य-पूरक पक्ष भी देख सकेंगे जो कि काल प्रवाह और ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ निश्चय आया करता है ।

किंतु तब किस विषय में लिखेंगे हम—हम जो स्वच्छंद हैं कि सृजन और चित्रण के लिये अपना संसार स्वयं खोज निकालें ? निस्संदेह हम भारत के देहातों और बढ़ते हुए नगरों को अपना विषय बनायेंगे, और निस्संदेह इन विषय पर अंग्रेजी की अपेक्षा देशी भाषाओं में कहीं अधिक साहित्य रचना होगी । किंतु अंग्रेजी में भी लेखन होगा ही, चाहे मौलिक, चाहे अनुवादित ; और यह बात विशेषकर बंबई और कलकत्ता जैसे

महान शहरों के लिए सत्य होगी क्योंकि इन शहरों पर अंतर्गच्छीयता की एक छाप है जिसे हम चाहकर भी मिटा नहीं सकते। और अंग्रेजी में ही हम लिखेंगे उन औद्योगिक और व्यापारिक आंदोलनों की बात जिनकी लपेट में हम हैं और जो हमारे राजनीतिक जीवन को विश्व का इतिहास निर्माण करनेवाली प्रगति का एक अंग बनाते हैं।

निरे वृत्तलेखन (रिपोर्टाज) के—जिसके अंतर्गत आज लेखन का एक बड़ा भाग आ जाता है—क्षेत्र में आगे बहुत-सा काम होगा। और बड़े बड़े जन-समूहों का जो यात-निर्यात हमने हाल में देखा है अथवा अन्य आमूल परिवर्तन और उथल-पुथल जो इधर हुई है, उसके वर्णन की श्रेष्ठ प्रणाली स्वल्पकथन और संयत अभिव्यंजना की प्रणाली ही है। शासन, शिक्षण, जीवन के नये प्रयोग; नये वर्गों का उत्थान, परिवारों, अत्ल और जात पात की भावना से उत्पन्न कुल-संस्कारों का हास; इस सबको वही अच्छी तरह देख और बखान सकता है जिसमें गहरी संवेदना के साथ उतना ही गहरा संयम भी है। इस प्रकार के लेखन के लिए व्यंजनाशील अंग्रेजी भाषा अद्वितीय सिद्ध होगी।

आगे—विशेषकर हमारी पीढ़ी से अगली पीढ़ी में—दार्शनिक और विचार साहित्य में पुनरुज्जीवन की लहर उठेगी। इसमें से कुछ तो वैचारिक नीवता के कारण विशुद्ध दार्शनिक लेखन का रूप लेगा, किंतु एक बहुत बड़ा भाग अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा अभिव्यक्ति की खोज करेगा—उपन्यास, निबंध, जीवनी (जीवन-चरित और आत्म-चरित की बाढ़-न्मी आवेगी ऐसी संभावना होती है) और काव्य द्राग। गाथा-साहित्य भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक होगा—कुछ सद्ज सुंदर और अनुवाद-सुलभ, जैसे हुमायूँ कबीर का 'मेन एंड रिवर्स', कुछ क्लेशप्रद किंतु मर्म स्पर्शी जैसे जैमैन्द्रकुमार का 'व्यागपत्र' (अनुवाद—'दि रेजिनेशन')। इन सब में हमारे दार्शनिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकार की विभिन्न परिपाटियाँ दुहरायी और तिहरायी जायेंगी, उनका बार-बार बखान होगा जब तक कि हम अपने आत्म-विश्वास को पुनः संस्थापित न कर लें, और अपनी निजी दृष्टि में (जिसका महत्व चरम कोटि का होता है) ऊँचे न उठ जायें।

इससे प्रतिकूल दिशा में निरे विद्रोह और अस्वीकार का भी कुछ साहित्य रचा जायगा। यह साहित्य कदाचित् कहानी को ही अपना मुख्य वाहक चुनेगा, यद्यपि व्यंग्यात्मक निबंधों और परिहास में भी उसकी अभिव्यक्ति होगी। यह लेखन उन सामाजिक क्रांतिकारियों की लेखनी से प्रसृत होगा, जो हमारे दर्शन की स्थितिशील प्रवृत्ति से असंतुष्ट हैं और एक स्वच्छतर, सुंदरतर और विवेकाश्रित संसार के लिए आतुर हैं। इन युवा लेखकों का तेज और जीवंत आशावाद हमारी अंतर्मुखी प्रवृत्तियों का शोधक होगा। उनकी रचनाओं में ओज और उत्साह होगा; और अगर वे जब-तब एक विशेष प्रकार के वृत्तलेखन के स्तर पर भी उतर आयेंगी जो कि आज कल अमरीका और यूरोप में प्रचलित है, तो उससे भी एक लेखन-शिल्प (नहीं, कला उसे नहीं कहा

न्यूरियल वची

जा सकेगा) का विकास होगा जिसके द्वारा हमारी अर्वाचीन विद्रोही भावनाओं को प्रवाह-मार्ग मिलेगा। इस समुदाय को अपनी भ्रमणचर्या में अवश्य ही मुल्कराज आनंद और खाजा अहमद अन्वास प्रभृति लेखकों से—इच्छया या कि अन्वथा—मार्ग निर्देश मिलेगा और उनकी रचनाओं में एक तीव्रता और लोच होगी जो जीवन के 'घटना-घटाटोप' के प्रति हमारे अति सहज स्वीकृति भाव का सुधार और परिष्कार करेगी।

वस्तु के लिए तो इससे आगे हमारी चेतना और हमारे जीवन के अब तक अछूते विस्तीर्ण क्षेत्र अभी परती पड़े हैं : (१) वयः संधि और उसके दुःख-क्लेश, उसके अकथनीय उत्साह-आनंदोद्रेक, उसकी अनोखी समस्याएँ जो सुगठित कौटुंबिक प्रणालियों से हटाए अपने को मुक्त पानेवाले आधुनिक युवा-युवती को घेर लेती हैं, उसकी अप्रत्याशित स्वच्छंदता जो आरंभ में सुविधा की अपेक्षा समस्या ही अधिक होती है। (२) नारी—माँ, पत्नी या प्रिया, विलासिनी या वागंगना, पतनकारिणी या परिव्रायिनी नहीं—एक सीधा समाज-धर्मा प्राणी, नयी भारतीय नारी जो पुरुषों की भाँति मेहनत करती है, जिसके सामने हैं पुरुष की सब समस्याएँ और उनसे आगे अपनी निजी कुछ और समस्याएँ भी.....मास्टरनी, दाई, डाक्टरनी, कभी-कभी स्त्री वकील, पर्दा और अन्य कुप्रथाओं से लड़ती हुई साधारण स्त्री, फिल्म अभिनेत्री, नर्स, पत्रकार, लेखिका..... वह नारीमात्र जो बँधी हुई चिरंतन लीकें छोड़कर नये मार्ग खोज रही है, जीवनाभिव्यक्ति और शायद प्रेमाभिव्यक्ति के। (३) परिवर्तनशील या कि परिवर्तनहीन ग्राम अब भी मानवीय उद्योग और संवर्ष, धैर्य और विजय की गाथाएँ हमें देगा, पर व्यापक सुधार-योजनाओं और शासन की अधिक गहरी पैठ से नयी अनुभूतियाँ, और अधिक पुष्ट संपर्क भी सामने आवेंगे और गति तथा विकास के नये आंदोलन प्रकट होंगे। (४) उद्योग—हमारे परिचय के किसी एक छोटे नगर को आक्रांत करता हुआ कोई एक उद्योग नहीं, वरन् बृहत् उद्योग का वह ऐंद्रजालिक जो एक साथ ही हमारे नगरों में हलचल फँक दे, जिससे यहाँ भी वैसे उद्योगपति प्रकट हों जैसे अन्य देशों ने भिड़ले दो सौ वर्षों में देखे हैं।

और जितनी विविध हमारी वर्ण्य वस्तु होगी, उतने ही विविध हमारे साहित्य के प्रकार होंगे। यह भी संभव है कि हम एक साथ ही दोनों परंपारियों में प्रयोग और अन्वेषण करके एक नया रूपाकार आविष्कृत करें, जो कि यूरोपीय लघुकथा और हमारे दार्शनिक-धार्मिक सूत्र-ग्रंथों के बीच कहीं का हो और हमारी अभिनव-चेतना की सम्यक् अभिव्यक्ति कर सके। हमारे साहित्यिक रूपाकारों को अभी से आँक देने की चेष्टा व्यर्थ होगी। इनकी—जैसे कि और अनेक बातों की—चर्चा हम तभी कर सकेंगे जब कि भारत के स्वाधीन जीवन के अभी कोरे पन्ने लिखे जा चुकें, और उसकी संतान जिन स्वप्नों को सदियों से केवल देखती आयी है उन स्वप्नों को मूर्त कर दे।

श्रीकृष्ण सक्सेना

प्रभाकर माचवे

बर्ट्रैंड रसेल का दर्शन

व्यक्ति रसेल

यदि बौद्ध तार्किक कुमारलब्ध सौत्रांतिक का जन्म २०० ईसवी में न होकर लगभग १७ सौ वर्ष बाद होता, और वह केंब्रिज विश्वविद्यालय में उच्च गणित की शिक्षा ग्रहण करता, तो वह बर्ट्रैंड रसेल कहलाता। सर्वास्तित्ववादी वैभाषिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति, जो हीनयान शाखा के तार्किक हैं, उन्हीं का आधुनिक दार्शनिक वंशज मानो रसेल है। लार्डों के घराने में जन्म लिया; दादा जॉन रसेल लिबरल प्रधान मंत्री थे जो व्यापार स्वातंत्र्य, शिक्षास्वातंत्र्य, यहूदियों के स्वातंत्र्य के समर्थक थे; पिता लार्ड एम्बरले एक स्वाधीन-चिंतक (फ्री-थिंकर) थे जिन्होंने बच्चे को धार्मिक शिक्षा के भार से बचाना चाहा था। जर्मन दाइरों द्वारा पालित यह बुद्धिमान बालक केम्ब्रिज में उच्च गणित का अध्यापक बना। सन् १४ के महायुद्ध में शांतिवादी यानी युद्ध विरोधी होने के कारण उसे विश्वविद्यालय ने पदच्युत किया। तब उसने विश्व को ही अपना विश्वविद्यालय बना लिया। प्रेम तथा स्वैराचार के संबंध में धीरे क्रांतिकारी विचार होने से अमरीका में भी वह विश्वविद्यालय में कार्य न कर सका। पैतृक संपत्ति तथा लार्ड पदवी तो कभी की त्याग ही दी थी। अपने निर्भीक विचारस्वातंत्र्य के कारण तर्क तथा शिक्षा के संबंध में लोक-प्रचलित मान्यताओं का मूर्ति-भंजन करने के लिए रसेल को आजीवन बहुत सा वहिष्कार और बहुत सी बदनामी सहनी पड़ी। परंतु, आज इंग्लैंड के जो गिने-चुने चोटी के चिंतक हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय मान प्राप्त है, और जिनके कारण इंग्लैंड की दार्शनिक परंपरा जो लॉक और ह्यूम से चली थी अस्तुंगत है, उसमें रसेल प्रधान हैं। लोगों को उसके रूस, प्रगति, अणु बम, भारत आदि के संबंध में व्यक्त किये गये कई मत अत्यंत कटु और अप्रिय लगे हैं, कई विचारक उसके सभी निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं; फिर भी विवेकवाद (रैशनलिज्म) तथा नव्य-वस्तुवाद (निओ-रियलिज्म) में उसका कार्य अनिस्मरणीय है। आधुनिक विश्व की मेधा और मानवता को उसने खुली खिड़कियाँ दी हैं। कोल्हू के बैल की तरह विचार करनेवाले उनसे भड़कें तो क्या आश्चर्य? गणित, शुद्ध दर्शन, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाज विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति और स्वतंत्र विचारपूर्ण निबंध आदि अनेक क्षेत्रों में उसने साधिकार लेखनी चलायी है।

श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रभाकर माचव

उमके ग्रंथों की एक तालिका लेख के अंत में दी गयी है। अँग्रेजी में तो उनके बारे में बहुत लिखा जा चुका है। भारतीय भाषाओं में 'उनपर स्वतंत्र' पुस्तकें शायद दो-तीन ही हों। मराठी में अनंत काणेकर ने 'रसेल नीति' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया है; उसके कामविषयक मतों का आलतेकर की पुस्तिका 'नवी मानस शास्त्र आणि नवी नीति' में विस्तृत चर्चा है। एक बँगला पुस्तक भी रसेल के लेखों के अनुवाद की छपी है। हिंदी में 'दर्शन-दिग्दर्शन' में उल्लेख या एकाध भूला-भटका लेख छोड़ दें, तो रसेल की विस्फोटक विचारधारा से हिंदी पाठक अपरिचित प्रायः हैं।

गणितज्ञ रसेल

रसेल लेखन में जैसा शुष्क है, आरंभिक जीवन भी उसका अत्यंत नियमित तथा रूखा सूखा बीता। उसके ४० वर्षों तक उसने कभी चित्रपट नहीं देखा; उसने जब बेर्गसों की देशकाल संबंधी मतधारा में सिनेमा का उदाहरण पड़ा; तब वह कहाँ तक ठीक है यह जानने के लिये वह सिनेमा देखने गया, जैसे वह भी दर्शनशास्त्र का पाठ हो। विल ड्यूरेन्ट ने अपने 'स्टोरी आफ़ फिलासफी' में लिखा है कि १९१४ में जब वह कोलंबिया विश्वविद्यालय में 'कार्यकारण मीमांसा' पर बोलने के लिये आया तब वह अपने व्याख्यान विषय के समान ही क्षणभर चैतन्य प्राप्त शुद्ध भावभाव, दो टाँगों पर खड़े फार्मुले के समान जान पड़ा। परंतु मर्च १९४१ का भयानक कांड घटित हुआ और गणि-तज्ञ-तार्किक रसेल की अस्थिर-रज्जा से जैसे एक रहस्यवादी-साम्यवादी रसेल का पुनर्जन्म हुआ। आरंभ में स्पष्टता, तर्क-शुद्धता का उसका आग्रह उसे गणित की ओर स्वाभाविक रूप से खींच ले गया। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रहस्यवाद और तर्कशास्त्र' में वह कहता है कि 'गणित में सत्य ही नहीं एक प्रकार का परम सौंदर्य भी है—शिल्प की भाँति शांत और कठोर सौंदर्य। वह हमारे मन के दुर्बल अंशों को नहीं उभारता, उसमें चित्रकला या संगीत की सी भड़कीली सजावट नहीं है; फिर भी वह हमारे मन को एक भव्य, पावन शांति प्रदान करता है; उसमें ऐसी काठिन्ययुक्त पूर्णता है जो ऊँची से ऊँची कला में ही मिलती है।' * गणित जैसी भयानक प्रेयसी का यह आशिक उन्नीसवीं सदी की सबसे बड़ी शोध 'असीम (इनफिनिट) की कल्पना' मानता है। उसके उच्च गणित में प्रवेश करना न यहाँ संभव ही है, न यह उपयुक्त स्थल है।

* 'Mathematics, rightly viewed, possesses not only truth but supreme beauty, a beauty cold and austere, like that of sculpture, without any appeal to our weaker nature, without the gorgeous trappings of painting or music, yet sublimely pure, and capable of a stern perfection such as only the greatest art can show.' (mysticism and Logic)

देकार्त की भाँति रसेल ने भी दर्शन के भवन में गणित के द्वार से प्रवेश किया। गणित में उसकी देन युगांतरकारिणी है। रसेल के अनुसार गणित और तर्कना मूलतः एक हैं। गणित का शैशव तर्क के यौवन में परिणत होता है। गणिच्चर्क (Logistics) के क्षेत्र में रसेल ने एक तो इकाइयों के इयत्ता-तारतम्य (हायरार्की ऑफ टाइम्स) और तार्किक 'कैल्कुलस' की स्थापना की है।

रसेल का वस्तुज्ञान-विषयक तर्क (एपिस्टेमोलोजी)

वस्तुज्ञान की कार्यकारण मीमांसा के क्षेत्र में रसेल का कार्य अद्वितीय है। सर्वास्तित्ववादियों की भाँति ज्ञेय वस्तु की 'बाह्यता' का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हुए भी रसेल ने उस वस्तु को ऐंद्रियिक अनुभूतियों के गुणावयवों में, परिणत कर एक प्रकार का 'तटस्थ एकत्ववाद' (न्यूट्रल मोनिज्म) उपस्थित किया। इस बात को समझने के लिये हम एक उदाहरण का सहारा लें। जब मैं जानता हूँ कि 'लाहौर दिल्ली से उत्तर में है' तब 'लाहौर' और 'दिल्ली' जैसे सुनिश्चित मन-बाह्य कल्पना-चित्र निर्माण करते हैं वैसे ही 'उत्तर में है' के भी विशेष अर्थ हैं क्योंकि (१) यदि 'उत्तर में है' की अपेक्षा 'दक्षिण में है' कहा जाय तो अर्थ बदल जायगा, (२) 'उत्तर में है' यह अर्थ न 'लाहौर' में समाया है न 'दिल्ली' में; और (४) यह 'उत्तर में है' केवल मेरे मन की यह कल्पना भी नहीं है क्योंकि मैं न भी जानूँ या मेरा अस्तित्व भी न रहे फिर भी लाहौर का दिल्ली से उत्तर में रहना रहेगा ही। इस प्रकार मन से ऊपर ज्ञेय वस्तु की सत्ता है और उन ज्ञेय 'गुणों और वस्तुओं' के—जिन्हें अफलातून 'रूप' (फार्म) कहता था—इन संबंधों की, अव्यय और क्रियाओं की भी विशेष सत्ता है। इस 'मि-पन' (in-ness) की शोध में रसेल निम्न अनेकांतिक स्थापनाओं पर आ पहुँचा: (१) ज्ञाता मन है (२) ज्ञेय से परिचय द्वारा प्राप्त संवेदना-तथ्य (sense-data) हैं (३) इन्हीं से बने दृष्टिकोण से जाने गये 'सामान्यीकरण' (universals) हैं (४) और इन सबसे परे वर्णन से जाने जानेवाले ज्ञेय पदार्थ हैं। क्या इन सब की सत्ता परस्पर-भिन्न है? क्या ये सब एक ही तत्त्व के विभिन्न आभास मात्र हैं?—(जैसे स्पिनोजा मानता था) या ये वे सब एक दूसरे से अलग, परस्पर-संघात जिनमें असंभव है ऐसे लाइब्निट्ज के 'मोनेड' (अणु) हैं? अब इस स्थिति से उबरने के लिए रसेल का तीव्र गणितीय तर्क, 'प्रोपॉजिशन के उद्गार' का काम शुरू करता है। १९१४ में लिखे 'बाह्यजगत् का हमारा ज्ञान' नामक ग्रंथ में उसने अपने संदेहवाद को तर्क की पराकोटि तक पहुँचाया है: यदि यह मान लें कि हमारे मन की भाँति अन्य जनों के भी मन हैं तो फिर एक ही, वस्तु के विभिन्न अन्वीक्षण (पर्स-स्पेक्शन) क्योंकि संभव होते हैं? या तो हमें ब्रह्म की भाँति बाह्य वस्तुओं की सत्ता अस्वीकार कर सब कुछ मानसिक है यह मान लेना होगा; या कांट की भाँति इन सब

श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रभाकर माधव

वस्तुओं से उपर किन्हीं कोटियों की सत्ता को अज्ञेय मानकर चलना होगा। एक वस्तुवादी के नाते रसेल इन दोनों परिस्थितियों से सहमत नहीं। उसका मत है कि सुकरात या कोई मनुष्य होता या न होता फिर भी 'मनुष्यमात्र मर्त्य हैं' इस प्रमेय की सत्ता अबाधित रहती। 'प्राक्लेम आफ किलासफी' नामक विख्यात निबंधमें वह कहता है—'संवेद्य वस्तु' से मेरा तात्पर्य मेज़ जैसी स्थूल वस्तु से नहीं अपितु मेज़ की ओर देखने से जो रंग का टुकड़ा, मेज़ को छूने से जो कठिन स्पर्शका अनुभव अथवा मेज़पर किसी चीज के अधात से होनेवाली विशेष ध्वनि आदि का समवाय है। यह सब संवेद्य विषय हैं और इनकी अनुभूति संवेदना। रसेल के अनुसार मन संवेदनापुंज है तथा संवेदना ही ज्ञान की परिमा है; उससे अधिक न हम जानते हैं, न हमें जानना आवश्यक ही है या संभव ही है। जैसे हमने रात को एक तारे का फोटो खींचने के लिये एक 'फोटोग्राफिक प्लेट' दूरबीन से लगाकर रखा—अब हमें दिखाई न देने पर भी उस फोटोग्राफिक प्लेट और उस तारे के बीच में, तथा बीच के प्रकाशवाही अन्तर में 'कुछ' घटित हो रहा है, जो कि प्लेट के अभाव में घटित न होगा, और इस घटना से उपर अन्य कई तारों का भी अस्तित्व या संबंध संभव है, जो उस फोटो के समय होने पर भी न होने के बराबर है। इस प्रकार ज्ञान केवल विशेष देश-काल परिस्थिति के अंश में प्राप्त आभास मात्र है। मन संवेदनाभासों का एक समूह है। अब प्रश्न उठता है कि समस्त ज्ञान यदि संवेदनाभास मात्र है, सब सामान्य यदि विशेष मात्र हैं तो फिर भ्रम या मिथ्यात्व या 'रज्जु-सर्प' या 'शुक्ति-रजत' अध्यास क्या? रसेल का मत है कि हमारी अनुभूतियों में कुछ संबंध उनके सादृश्य, समागम आदि के कारण हमने 'सही' मान लिये हैं: जब हमारी अपेक्षा-पूर्ति नहीं होती हम उन्हें गलत मान लेते हैं। 'अ' 'ब' की गड़बड़ है या माँ है इस संबंध से हमारी कुछ अपेक्षाएँ हैं जो 'स' 'ब' की पत्नी है इससे पूर्ण नहीं होती। अपेक्षा रूढ़िगत है। मन यदि गतानुगतिकत्व से मुक्त हुआ तो 'अ' और 'स' को विशेषताएँ नष्ट हो जा सकती हैं।

रसेल और वैज्ञानिक विचार-पद्धति

केवल विज्ञान से रसेल संतुष्ट नहीं। भौतिक विज्ञान अधिकाधिक आध्यात्मिक और अंधश्रद्धालु बनता जा रहा है यह जीन्स, एडिंघ्टन आदि के नवीन भौतिक विज्ञान के गृह्यवादी स्पष्टीकरण से व्यक्त होता है। वैसे ही मनोविज्ञान आदि दर्शन की नवीन चिंता धाराएँ 'व्यवहारवाद' (बिहेवियरिज्म) आदि शाखाओं के अनुसार अधिकाधिक भौतिक बनती जा रही हैं। अतः रसेल प्राचीन रूढ़ दर्शन शास्त्र को कई शास्त्रोंमें विभक्त करना चाहता है। उसके अनुसार मूल द्रव्य न तो जड़पदार्थ (मैटर) ही हैं, न मनस्तत्व (माइंड), बल्कि इन दोनों से परे एक तटस्थ तृतीयता है, जो विभेद में अभेद पैदा करती है।

‘शास्त्रीय अवलोकन’ (दी साइंटिफिक आउटलुक) नामक ग्रंथ में रसेल कहते हैं—‘धीरे-धीरे विज्ञान का अर्थ ज्ञान-साधन कम होता गया, और प्रकृति से अधिकाधिक काम कर लेने की शक्ति विज्ञान कहलाने लगी ; इस कारण सर्व साधारण में विज्ञान को कलाकी अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त हुआ परंतु इससे विज्ञान कला से श्रेष्ठ नहीं बन जाता । विज्ञान का तांत्रिक (टेक्निकल) महत्व बढ़ रहा है, यहाँ तक कि आर्थिक संघटना, समाज-व्यवस्था भी विज्ञान द्वारा नवीन रूप और आकार ग्रहण करती जा रही है । विज्ञान-संस्कृति को यदि कल्याणप्रद बनना है तो ज्ञान के साथ-साथ विवेक और समझदारी भी बढ़ना आवश्यक है ।’ ह्यूम की भाँति रसेल ने भी वैज्ञानिक प्रमाण-पद्धति पर ‘मूले कुठाराः’ न्याय से आक्रमण किया है । ‘अंगार जलता है’ यह ज्ञान इस वैज्ञानिक नियम के शोध के पूर्व उपस्थित था । अतः शास्त्रीय या वैज्ञानिक पद्धति एक प्रकार से अप्राकृतिक है । हमारे अधिकांश मत हमारी इच्छापूर्ति के स्वप्न होते हैं । हममें से बहुत विचारपूर्ण कहे जानेवाले व्यक्तियों के मन भी तूफानी समुद्र के समान होते हैं ; उसमें वासनाओं के तल से ऊपर प्रामाणिकता का ज्वार लिये उठने वाली मत तरंगवली दिखायी देती है : उस समय वैज्ञानिक मतों की छोटी-छोटी नौकाएँ अब-दूबी—अब डूबी ऐसी अवस्था में हिलनी-चलती रहती हैं ।... आखिर एक बीमार आदमी को परहेज (पथ्य-अनुपान) के लिए वैद्य के मत का आश्रय लेना ही होगा । सर्वसाधारण व्यक्ति ऐसे विशेषज्ञ का काम कैसे कर सकते हैं ? विज्ञान की अनुमान पद्धति तथा कार्य-कारण भीमांसा का विश्लेषण करते हुए रसेल कहते हैं कि एक ही समय अनेक प्रकार की उपपत्तियाँ या अनुमान (हाइपोथिसिस) हो सकते हैं—और तब वैज्ञानिक उन सब में से सबसे सुविधाजनक, सुकर अनुमान को चुन लेता है । परीक्षणोपगत उसमें कोई अपूर्णता मिली तो दूसरा कठिनतर अनुमान चुनता है । उसी प्रकार से कार्य-कारण-अवच्छेद में भी पृथक्करण संभव है—दो कारणों का अलग-अलग परिणाम और दोनों का संमिलित परिणाम सदा एक-सा होगा यह कुछ आवश्यक नहीं है । इस प्रकार रसेल ने अपने विवेकवाद (रैशनलिज्म) का तीव्र शस्त्र विज्ञान पर भी चलाया है ।

इस प्रकार से रसेल को किसी दार्शनिक ‘वाद’ विशेष से बाँधना बहुत कठिन हो जाता है । रसेल के अध्यात्म, उसकी चिंताधारा को ‘तार्किक परमाणुवाद’, ‘तटस्थ अद्वैतवाद’, ‘बहुत्ववाद’ या ‘नव्य-वस्तुवाद’ के नाम से भिन्न-भिन्न आलोचकों ने परिभाषित किया है । परंतु चूँकि तत्त्वज्ञान का उद्देश्य धर्मशास्त्र की भाँति जीवन के रोगों को दूर करना रसेल नहीं मानता अतः उसके विश्वासों को पुनः ‘वाद’ से बाँधना असंभवप्राय है । उसने सबसे बड़ा काम किया है दर्शन को धर्म के कीटाणुओं से मुक्त करना । ‘दर्शन स्वयं अकेले जीवन का उद्देश्य नहीं निश्चित कर सकता, वह केवल संकुचित दृष्टिकोण और पूर्वग्रहों से उत्पन्न अन्याय विकृतियों से हमारे मन को मुक्त कर सकता है ।’ देश-

श्री कृष्ण सक्सेना, प्रभाकर माचवे

काल-चिन्ता के क्षेत्र में 'दृष्टिकोणों' का उसका सिद्धांत (जो जैन न्याय के अनेकांतवाद से मिलता है) अपूर्व है। आरंभ में वह ब्रैडले और मैकटेगार्ट जैसे विज्ञानवादियों (आइडियलिस्टों) के प्रभाव में था ; उनका शिष्य अपने आपको मानता था, परंतु जी० ई० मूर के प्रभाव से वह विद्रोही बन गया। तत्स्थ अद्वैतवाद का तत्व उसने जेम्स आदि अमरीकी व्यवहारवादियों से लिया। ह्यूम की भाँति क्षणिकवाद (फिनां-मेनलिज्म) को वह चिन्ता का आरंभ बिंदु और विवेचन-पद्धति का प्रमुख सिद्धांत मानकर चलता है। ह्यूम का बीसवीं सदी में पुनर्जन्म रसेल के रूप में हुआ—दोनों का संदेहवाद, कार्यकरण मीमांसा, संवेदना तथा कल्याणचिन्तों की मान्यता, अज्ञेयवाद तथा परमाणुवाद एक-सा है। देकार्त के समय जो तन-मन की समस्या थी उसे रसेल ने हल कर दिया। तन जिसे हम मानते हैं उसमें तनुता कम है ; मन जिसे हम कहते हैं उसमें मानसिकता कम है। इस प्रकार दोनों से परे और ही कोई तत्व है जो तन मन को संभाले है और वह तत्व नियतिकृत नियमरहित या अगोचर, अतींद्रिय, परम, सर्वव्यापी नहीं है। वह केवल जड़ भौतिक पदार्थ ही नहीं है। वह अज्ञेय है। वह हमारी संवेदनाओं से बना वास्तव तत्व है। वह सुमंवेश और फिर भी अनिर्वच्य है।

रसेल की स्वतंत्र नव्यनीति

'स्वाधीन चिन्ता और सरकारी प्रोपोजेंडा' नामक १९२२ में लिखा हुआ निबंध इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उसके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं : ('जनता को मोचने दो—लेट दि पीपुल थिंक' से)

“जब हम स्वतंत्रता की बात करते हैं तब यह जानना जरूरी है कि हम स्वतंत्र किन बंधनों से हैं। ये बाह्य बंधन कौन से हैं ? क्योंकि अपने आपको लोकतंत्र आदि के हिमायती माननेवाले राष्ट्रों में भी कई तरह के बंधन आज भी हैं। इस बात की सीधी कसौटी यह है कि जब किसी मत-विश्वास के मानने या न मानने पर कानूनी सख्तियाँ या दंड विधान होता है—तब विचार स्वातंत्र्य सच्चे मानी में नहीं हैं। इंग्लैंड में 'ब्लैस-फेमी लॉ' के अंतर्गत ईसाई धर्म में अविश्वास व्यक्त करना दंडनीय अपराध है, जब कि प्रत्यक्ष देखा यह गया है कि अमीरों को इसकी छूट है। ईसा ने अहिंसा के संबंध में जो सीख दी वह युद्ध-काल में सिखाना गैर-कानूनी माना जाता है। इसलिए जिस किसी को अपराधी बनने से बचना हो वह एक ओर तो ईसा की सीख को ठीक बतावे, दूसरी ओर उसी बात को प्रचारित करने का या कृति में उतारने का उसे अधिकार नहीं। अमरीका में तो जब तक आप यह गंभीरता से घोषित नहीं कर देते कि आप अराजकवाद और बहुपत्नीत्व में विश्वास नहीं करते तब तक आपको प्रवेश निषिद्ध है ; और एक बार प्रवेश पा जाने पर कम्युनिज्म में अविश्वास व्यक्त करना पड़ता है। जापान में

मिकाडो देवी अंश है इस बात में अविश्वास व्यक्त करना अपराध है। इस प्रकार दुनिया का सफर एक स्वाधीन चिंतक के लिए खतरे से खाली नहीं। मुस्लिम, तात्स्तायवादी, एक बोल्शेविक या ईसाई कहीं-न-कहीं अपराधी हुए बिना प्रवास कर नहीं सकता, नहीं तो उसे कम-से-कम जिन बातों को वह सत्य मानता है उनके बारे में चुपची धारण करनी ही होगी। यह सब तीसरे दर्जे के सफरियों की बात है; ऊँचे दर्जे के 'सलून' में प्रवास करनेवाले चाहे जो विश्वास कर सकते हैं, बशर्ते कि वे आक्रामक समाज-विरोधी कार्य न करें।

‘इससे स्पष्ट है कि कोई भी बड़ा देश अभी इस प्राथमिक स्वतंत्रता तक भी नहीं पहुँचा है कि वह विचारस्वातंत्र्य के बाधा-दंड का अभाव घोषित कर सके। जिन मतों का पीछा किया जाता है, जिन विश्वासों पर आघात किया जाता है वे बहुसंख्यक जनता को ऐसे भयानक, राक्षसी और अनैतिक जान पड़ते हैं कि उनके लिए सहिष्णुता या उदारता उनमें असंभव है। एक समय था जब प्रोटेस्टेंट धर्म भी इतना ही जघन्य माना जाता था जैसे आज बोल्शेविज्म (रूसी साम्यवाद)। परंतु कृपया इससे यह निष्कर्ष आप न निकालें कि मैं प्रोटेस्टेंट हूँ या बोल्शेविक...

‘सच्चा विचार-स्वातंत्र्य वहाँ होता है, जहाँ सब मत-विश्वासों को पनपने-फूलने, प्रचार करने और परस्पर-स्पर्द्धा करने का समान अवसर दिया जाय। मेरे जीवन की तीन घटनाएँ जो नीचे दे रहा हूँ, उनसे सिद्ध होगा कि इंग्लैंड में ईसाइयत के पक्ष में पलड़ा कितना मुका हुआ है। मैं जब तीन बरस का था, मेरे पिता का देहांत हुआ। वे स्वाधीन चिंतक थे। अतः वे मृत्यु-पत्र में लिख गये कि बच्चे की शिक्षा में धार्मिक अंध विश्वास को कोई स्थान न हो, किंतु वह न हो सका। इंग्लैंड में यह कानून के अंदर है कि बाप बच्चे के मस्तिष्क में जो अंधविश्वास चाहे ठूँसे, किंतु अंधविश्वास से बचने की कोई व्यवस्था की जाय तो वह नियमबद्ध होती है।

‘दूसरी घटना १८१० की है। मैं पार्लियामेंट के मंत्र के नाते लिबरल-पक्ष की ओर से चुना जानेवाला था। पूछा गया कि क्या तुम अज्ञेयवादी (एगनास्टिक) हो? मैंने कहा—हाँ। पूछा गया—कभी-कभी गिर्जों में जाने में आपत्ति है? मैंने कहा—मैं नहीं जाऊँगा। इस पर मैं चुना नहीं गया।

‘तीसरी घटना जब मैं ट्रिनिटी कॉलेज, केंब्रिज में लेक्चरर बनाया गया, तब की है। मुझे ‘फेलो’-पद पर जान-बूझकर नहीं चुना गया, क्योंकि केंब्रिज के अधिकारियों में पाद्री-पक्षीय (clerical) लोग काफी थे। ‘फेलो’ को वोट का अधिकार होता है, लेक्चरर को नहीं। फिर १८१६ में जब मेरे युद्ध-संबंधी मत उन्हें अप्रिय लगे, उन्होंने मुझे केंब्रिज से निकाल दिया। अगर अपने लेक्चरर पद के ही भरोसे रहता, तो भूखों मरने की नौबत थी।’

श्रीकृष्ण सन्सेना, प्रभाकर माचवे

उपयुक्त लंबे अवतरण से स्पष्ट है कि रसेल जिस स्वतंत्र नव्यनीति का प्रतिपादक है, उसमें ईश्वर, उसके पुजारी, मठ, मठाधीश आदि दकोसलों को जैसे कोई स्थान नहीं है, वैसे ही वह दर्शन और धर्म की भाँति राजनीति और धर्म की, स्वतंत्र क्षेत्र-सीमाएँ मानता है। सामाजिक आचार में भी राजनीति और दर्शन की ही तरह धर्म के अंधश्रद्धा के कीटाणु वह घुसने नहीं देना चाहता। 'तरुणमुलभ अविश्वास' (ऑन यूथफुल सिनिसिज्म) नामक निबंध (१९२६) में भारत के संबंध में वह लिखता है— 'भारत में प्रामाणिक उत्साही तरुणों का मौलिक विश्वास यदि किसी बात में है तो वह इंग्लैंड की दुष्टता में। इस स्थापना से, एक पूरे दर्शन का आगे आगम होता है। अब चूँकि इंग्लैंड ईसाई है, अतः इस्लाम या हिंदूधर्म—जैसी जिसकी श्रद्धा हो—यही सच्चा धर्म है। इंग्लैंड पूँजीवादी और औद्योगिक देश है, अतः तर्क करनेवाले के स्वभावानुसार यह निष्कर्ष निकला कि—या तो चरखा लेकर 'आये थे हरिभजन को, औटन लगे कपास' करना चाहिये या देशी उद्योगधंधों और पूँजीवाद के विकास के लिए विदेशी वस्तुओं के आक्रमण से संरक्षक कर लगाने चाहिये। चूँकि ब्रितान ने भारत को पाशविक शक्ति से पकड़ रखा है, इसलिये परिणाम यह निकला कि नैतिक बल या आत्मबल ही श्रेष्ठतर है। भारत में राष्ट्रीय आंदोलनों का दमन उन तरुणों में इस भावना को बढ़ाता है कि ये राष्ट्रीय हलचलों वीरतापूर्ण हैं, परंतु यह नहीं कि इनका उपयोग कहाँ तक है? इस प्रकार भारत की बुद्धिमान तरुणाई को अविश्वास की आँधी से भारत में के अँग्रेजों ने बचा रखा है।'

रसेल के प्रेम, स्वेच्छाचार और वेश्यावृत्ति संबंधी मंतव्य

रसेल का सच्चे महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी आघात है रूढ़ आचारनीति पर! 'सामाजिक पुनर्रचना', 'विवाह और नीतिबंधन', 'स्वतंत्रता के मार्ग', 'संशयवादी निबंध' आदि ग्रंथों में रसेल ने प्रेम, स्वेच्छाचार, विवाह, वेश्यावृत्ति आदि के संबंध में अपने मतों का स्पष्टीकरण किया है। १९१६ में प्रकाशित 'सामाजिक पुनर्रचना' नामक ग्रंथ में बहुत अच्छी बात लिखी थी—'बुद्धिपूर्वक सुनिश्चित हेतुओं की अपेक्षा आक्रामक प्रवृत्तियों का व्यक्तियों के जीवन क्रम निर्माण में अधिक हाथ रहता है। अधिकांश प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं; आक्रमणशील और निर्माणशील। आक्रमणशील वृत्तियों में दूसरों को कुछ न देते हुए अपने पास चीजों को बटोरना और संग्रह करना प्रधान हेतु होता है; तो निर्माणशील वृत्तियों में ज्ञान, कला, कीर्ति आदि व्यक्तिगत संपत्ति न हो सकनेवाली वस्तुओं को दुनियाँ में लाना प्रमुख हेतु होता है। निर्माणशील वृत्तियों पर आधारित जीवनक्रम अत्युत्तम और आक्रमणशील (Possessive-assertive) वृत्तियों पर आधारित जीवनक्रम अति-निकृष्ट मानता हूँ।

राजनैतिक संस्थाओं का स्त्री-पुरुषों के जीवन पर बहुत प्रभाव होता है, अतएव वे निर्माणशील प्रवृत्तियों को बढ़ानेवाली और आक्रमणशीलता को मित्यनेवाली होनी चाहिये। आक्रमण वृत्तियों का मूर्तरूप राष्ट्र, युद्ध और व्यक्तिगत संघर्ष के रूप में दिखायी देता है; निर्माणात्मक वृत्तियों का आग्रह धर्म, शिक्षा, विवाह आदि में व्यक्त होना चाहिये। आज जो कुछ निर्माण हो रहा है बहुत अधूरा-अधूरा-सा है। राजनीतिक और आर्थिक व्यवहार में सुगार या शांति का अर्थ है निर्माणशीलता को पूर्ण स्वतंत्रता देना।

रसेल 'इंपल्स' (स्वभाव-प्रवृत्ति) और 'डिजायर' (इच्छा) में अंतर करके यह मानता है कि यदि मनुष्य के स्वाभाविक या प्राकृतिक आवेगों को राजनीति में महत्व दिया जाय, स्वतंत्रता दी जाय तो युद्ध समाप्त हो जावेंगे। स्वभाव की तुलना में इच्छाएँ मनुष्य का जीवन क्रम अधिक नियमित करती हैं। स्वभाववृत्ति क्षणिक और चंचल और नियमशून्य होती है; व्यवस्थित समाज में वह ठीक से नहीं जम पाती। बच्चों के या कलाकारों के मामले में हम उसे सह लेते हैं; परंतु जिस व्यक्ति के बारे में हम गंभीर विचार करते हैं उसमें वैसा मनमौजीपन सुख नहीं माना जाता...ये प्रवृत्तियाँ अंधी होती हैं। अधिकांश लोग जो काम करते हैं, वह इस स्वाभाविक रुचि के अनुकूल नहीं होता। इन अविचार्य अंधी प्रवृत्तियों से कभी-कभी विनाश और मृत्यु प्राप्त होता है; परंतु कभी-कभी संग्राम की अत्युत्तम वस्तुओं का लाभ भी इन्हीं वृत्तियों से होता है। इन्हीं प्रवृत्तियों से एक ओर युद्ध होते हैं तो दूसरी ओर धर्म, वैज्ञानिक शोध, कला, प्रेम आदि भी निर्मित होते हैं। इन प्रवृत्तियों का नाश इष्ट नहीं। इन्हें जीवन और प्रगति की ओर मोड़ना आवश्यक है, मृत्यु और वार्धक्य की ओर नहीं। नीति के मामले में रसेल एक निर्भीक, कटु आलोचक है। ईसाई विवाह बंधनों पर और नीति नियमों पर रसेल ने खूब चाबुक चलाये हैं। ईसाई धर्म में संन्यास मार्ग का महत्व प्रचारित करने से शरीर संबंध अति दूषणीय माना जाने लगा। स्त्री-पुरुष संबंध केवल पुत्रोत्पादन के लिए हो; अन्यथा वह पापमय और घृणित और त्याज्य है—इस मान्यता के कारण 'प्रेम'-भावना भी निन्द्य मानी गयी। जिस प्रकार अमरीका में मदिरा निषेध का अर्थ यह हुआ कि शराबखोरी और भी बढ़ी, उसी तरह कैथोलिक धर्म में विवाह संबंध पशुतुल्य होने लगे। एक ओर कैथोलिक धर्म संभोग केवल पुत्रोत्पादनार्थ मानते हैं; दूसरी ओर यदि पत्नी बंध्या हो तो तलाक भी उस धर्म के अनुसार नहीं ले सकते। अतः रसेल के मतानुसार पुत्रोत्पादन विवाह का प्रधान हेतु नहीं है; परंतु पाप से बचने के लिए विवाह संस्था निर्मित हुई। ईसाई धर्म के निवृत्तिवादी आग्रह के कारण 'प्रेम' का गला घोट दिया गया। 'मैरेज एंड मॉरल्स' में काव्यमय प्रेम (रोमैंटिक लव) की मीमांसा है। योरोप में मध्ययुग में काव्यमय या अद्भुत प्रेम बहुत प्रशंसित हुआ। रसेल

श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रभाकर माचव

कहता है 'रोमैंटिक प्रेम की विशेषता यह है कि प्रेम विषय बहुत मूल्यवान, गुणसंपन्न, रूपसंपन्न होना चाहिए और यह प्रेमी उस नायिका की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के यत्न करता है—कभी काव्य रचता है तो कभी गाना गाता है तो कभी शस्त्र विद्या में अपनी निपुणता दिखलाता है, आदि-आदि। जितना ही नायिका को प्राप्त करना कठिन माना जाय उतनी ही वह मूल्यवान, प्रियतर होती जाती है। यदि किसी नायिका की प्राप्ति की राह में कोई बाधा ही न हो तो उसके प्रति प्रेम रोमैंटिक नहीं माना जायगा। मध्ययुगीन रोमांस के मूल में नायक-नायिका के शरीर संभोग की कल्पना होती ही नहीं; वहाँ नायिका सदा अलभ्य होती थी। ईसाई धर्म ने शरीर संबंध पापमय है यह रुढ़ि इतनी सामान्य बना दी कि प्रेम जब निर्विषय हो, काया संसर्गहीन और 'प्लेटॉनिक' हो तभी वह सुंदर माना जाने लगा।'

प्रेम विवाह में जो रोमैंटिक प्रेम अभिप्रेत है, उसका काफी मखौल विवेकवादी रसेल ने उड़ाया है। 'इंतजार के मजे' को बढ़ाते जाने से 'विसालेयार' प्रियतर बनता है यह भ्रमपूर्ण स्वप्न तब टूटता है जब एक दूसरे के शरीर संबंध के ज्ञान के अभाव में केवल काव्यमय प्रेम के भरोसे वे विवाह कर बैठते हैं। 'जिस लड़की को वचन से शरीर के संबंध में व्यावहारिक अज्ञान में पालित किया जाता है और इस कारण दो व्यक्तियों के मनों का मिलन और शारीरिक सुख की भूल में जो भेद नहीं कर पाती, वह स्वाभाविक रूप से इस तरह भ्रम में पँसे तो इसमें क्या आश्चर्य?' इस प्रकार प्रेम-विवाह की निरर्थकता बतला कर रसेल स्पष्ट रूप से गलत्यों का विमर्श करता है। महाकवि और कलाकारों ने प्रेम को जो काव्यमय, कुहरिल, झूठी, मीठी कल्पनाओं का आवरण पहनाया है, वह गलत है। शरीर संबंध के बिना प्रेम का कोई अर्थ ही नहीं है।

काम संबंधी नीति में परिवर्तन होने के दो प्रधान कारण हैं : एक तो संतति नियम के साधनों की शोध ; दूसरे स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता। स्त्रियों के आचार-विचार अब तक पुरुष निर्मित थे। पुरुषों को तो स्वेच्छाचार की छूट थी, स्त्रियों को नहीं। स्त्रियों के बारे में बड़ी बाधा प्राकृतिक थी—कि स्त्री-पुरुष संभोग के चिन्ह पुरुष में नहीं वचते थे, परंतु स्त्री में गर्भ धारणा के रूप में रहते थे। गर्भनिरोधक साधनों की ईजाद से अब नारी पुरुष के ही समान स्वेच्छाचारिणी बन सकती है। संतति-निरोध का आंदोलन केवल सामाजिक दुखों की परंपरा कम करने के लिए नहीं है, जैसे अर्थशास्त्रज्ञ बतलाते हैं। अपितु संतति-निरोध पर पुराने रूढ़िवादी आचार शास्त्री जो आरोप लगाते हैं कि उससे स्वेच्छाचार बढ़ेगा, उसी दोष को गुण मानकर रसेल कहता है कि इस प्रकार मानव की शक्तियों का जो बहुत-सा दुरुपयोग केवल 'काम जीतने' में होता है—वह बच जायगा। जीभ की भूल की भाँति शरीर की इस दूसरी

भूख का समाधान हो सकने से, स्वाभाविक प्रवृत्तियों निर्माणशीलता की ओर अधिक बढ़ेगी ऐसा रसेल को पूर्ण विश्वास है। स्त्रियों के दास्य-विमोचन के आंदोलन के विषय में वह कहता है कि—‘आज की नारी समान नैतिक स्वातंत्र्य चाहती है, अपनी पूर्ववर्तिनी की भाँति समान नैतिक दासता नहीं।’ स्त्री पुरुषों के समानाधिकार का सच्चा अर्थ यही है कि कामोपभोग स्वातंत्र्य भी दोनों को समान मात्रा में मिले।

इस मान्यता के मूल में नीति, पातिव्रत्य, शुद्धता, भ्रष्टता आदि के संबंध में जो हमारे मत विश्वास हैं उनका खंडन आवश्यक है। स्वाभाविक रूप से विवाह को संस्कार न मानकर केवल एक करार मान लेने से जो परिणाम निकलेंगे उसमें वेदया और वेदयावृत्ति तथा कुटुंब व्यवस्था का भवितव्य विजड़ित है। रसेल के अनुसार कामाचार के स्वातंत्र्य से वेदयावृत्ति कम हो जायगी। इतना ही नहीं अपितु स्त्री के आर्थिक दास्यविमोचन के साथ ही स्त्री यह जानने लगेगी कि वेदयावृत्ति से अधिक वह दूसरी वृत्तियों से कमा सकती है और अधिक सुख से जीवित रह सकती है। रसेल का मत यह है कि स्त्री पर से पुरुषों का स्वत्व ढीला होते ही मात्सर्यवृत्ति कम हो जायगी और तब हम जैसे दूसरे के घर के अन्न का उस घर वाले की इच्छा से स्वीकार पाप नहीं मानते, परपुरुष या परस्त्री से मिलन यदि स्वेच्छा से हो तो पाप या शंका से न देखा जायगा। हाँ, कुटुंब-व्यवस्था के और अबाधित पुत्रोत्पादन के संबंध में रसेल के मत कुछ विनित्र हैं। वह कहता है कि विवाह बाह्य समागम से संतति न उत्पन्न हो इसका ध्यान रखना होगा। विवाह नामक सामाजिक संस्था पुत्रोत्पादनार्थ है। अतः पुत्रोत्पादन केवल विवाहित व्यक्ति ही करें। परंतु इस स्थिति में रसेल मानव-स्वभाव में केवल पति-पत्नीपर एकाधिकार की ही नहीं संतानाभिलाषा की भी जो वृत्ति है, उसका ध्यान नहीं रखता। मान लीजिये एक नीति-बाह्य स्त्री-पुरुष-संबंध में संतानाभिलाषा भी है। फिर गज के नियम क्या करें? प्लेटो की भाँति ‘पत्नियों या पतियों का यौन उपयोग मानने पर स्वाभाविक रूप से सत्र संतति अंततः जाति या राष्ट्र की है—यह स्थिति माननी पड़ेगी। परंतु रूस के उदाहरण को बुरा बतलाकर रसेल अपनी ही मान्यता को काटने का प्रयत्न करता है ऐसा जान पड़ता है। जो भी हो, इस विषय में रसेल की गतावली काम-क्षुधित, वर्जनाओं के देश भारत के लिए एकदम महौषधि है।

रसेल के अर्थ-शास्त्र तथा राजनीति संबंधी मत

रसेल के अर्थ-शास्त्र संबंधी मत ‘आर्थोद्योगिक सभ्यता का भवितव्य’ (दी प्रास्पेक्ट्स आफ इंडस्ट्रियल सिविलाइजेशन) में व्यक्त हुए हैं। ‘लोग क्यों लड़ते हैं?’ (हार्ड मेन फाइट) में वह लिखता है—‘जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार से जाति का कोई भला नहीं होता। यदि सत्र आदमी समझदार होते तो दूसरे ही दिन उन्होंने कानून

बना दिया होता कि भूमि सबकी हो, और आज के जमीन के मालिकों को सिर्फ सामान्य आजीविका-आय से अधिक मोआवजा न दिया जाय ।' रसेल के अनुसार संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार एक प्रकार की चोरी है । राज्य व्यवस्थाएँ इस चोरी को नियम-कानून, फाँज फाँटे से सुरक्षित रखते हैं—अतः वे गलत ही नहीं, एक बड़ा पाप हैं । शासन का स्थान सहकारी उत्पादकों की संघ-संस्थाओं को लेना चाहिए । आज की आर्थिक व्यवस्था तो व्यक्तित्व और प्रतिभा को कुचलनेवाली व्यवस्था है । आर्थिक व्यवस्था भी मानसिक स्वतंत्रता की पोषक बने । इसी विचारस्वातंत्र्य के सिद्धांत के कारण वह मार्क्सवाद तथा फाशिवाद दोनों को त्याज्य मानता है, क्योंकि यद्यपि दोनों सिद्धांत परस्परविरोधी हैं तथापि उनमें एक बात में अद्भुत मतैक्य है—दोनों ही वैयक्तिक स्वाधीनता को कुछ अंशों में नहीं मानते । मार्क्सवादी का भौतिकवाद तथा आदर्शवाद का द्रष्टात्मक गपट्टीकरण रसेल के निकट तर्कशः स्वीकार्य नहीं । इतिहास की द्रष्टात्मक व्याख्या भी इतिहास की अकेली व्याख्या नहीं—इतिहास की कई अन्य व्याख्याएँ संभव हैं । मार्क्स का वर्धित-मूल्य सिद्धांत भी अनुभव से अग्रिम हो चुका है, ऐसा रसेल का मतव्य है । मार्क्सवाद और प्रजातंत्र में विरोध है, यह रसेल का आक्षेप बहुत कुछ वर्तमान रूस में विचारस्वातंत्र्य पर लगी रोक-थाम को लेकर है । रसेल नियंत्रण मात्र गलत मानता है, रूस में तो अनेक नियंत्रण हैं । कम्यूनिज्म अथवा साम्यवाद को वह साध्य के नाते मानता है, परंतु उसकी प्राप्ति में जो साधन प्रयोग में लाये जाते हैं उनसे वह सहमत नहीं । फाशिवाद के बारे में तो वह साध्य तथा साधन दोनों ही अनुचित मानता है । फाशिज्म राष्ट्रीयता का अतिरंजन करता है ; वह प्रजातंत्र-विरोधी है । फाशिज्म कोई दर्शन ही नहीं, वह तो एक प्रकार का मनोवगाहन मात्र है । रसेल बला-श्रित राजनीति का कट्टर विरोधी है । सच्चा बल तो विवेक का है—ऐसा उसका निष्कर्ष है । 'फाशिज्म की वंशपरंपरा' नामक १९३५ में लिखे निबंध के अंत में वह कहता है : 'राजनीति में विवेक का हास दो कारणों से होता है : एक ओर तो ऐसे वर्ग और व्यक्ति होते हैं जिन्हें संसार में—जैसा कि वह है—कोई क्षेत्र नहीं मिलता, और स्वयं श्रमजीवी न होने से उन्हें समाजवाद में कोई आशा नहीं दिखायी देती ; दूसरी ओर शक्तिमान और योग्यता वाले ऐसे कई आदमी होते हैं जिनके स्वार्थ समूची जाति के हितों के विरोधी होते हैं, अतः उन्हें अपना प्रभाव अच्युतण बनाये रखने के लिए किसी न किसी प्रकार के सन्नितगत का आश्रय लेना पड़ता है ।...जितना ही अधिक समाज-वाद और सर्वसुख शांति की ओर से खतरा बढ़ता जायगा, उतना ही ये सरकारें अपने प्रजाजनों के मानसिक जीवन को विकृत कर देंगी ; और जितनी अधिक आज की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती जायँगी, उतनी ही आसानी से इन कठिनाइयों के शिकार शोषित-उत्पीड़ित बुद्धिवादी गांभीर्य से हटकर, इस आकर्षक मायाजाल के जोश में आते

जावेंगे। १८४८ से जो राष्ट्रीयता का बुखार बढ़ा है उसने एक प्रकार का अविचार और अविवेक का पंथ चला दिया। एक विश्वव्यापी सत्य को लोग भूल गये। अब तो अंग्रेजी सत्य, फ्रांसीसी सत्य, जर्मन सत्य, मांटेनीग्रन सत्य और मोनाको का सत्य— ऐसे कई सत्य चल पड़े हैं। उसी प्रकार श्रमिक का सत्य अलग, पूँजीवादी का अलग। रसेल समाजवाद मानता है। परंतु रूसी दंग का नहीं। यदि समाजवाद और प्रजातंत्र में चुनने की समस्या उसके सामने हो तो वह प्रजातंत्र चुनेगा। राज्यसंस्था उत्पादन के साधनों का अधिकार अपने पास ले ले; राज्य प्रजातंत्रात्मक प्रेरणा से शक्ति ग्रहण करे। ऐसा ही राज्य आर्थिक सुव्यवस्था, कला सृष्टि और शांति-स्थापना की सुविधाएँ दे सकता है। परंतु कभी-कभी वह आधुनिक प्रजातंत्र का व्यंग्यपूर्ण मजाक उड़ाता है। स्तालिन, मुसोलिनी, हिटलर को एक पंक्ति में बिठला कर वह कहता है कि ये संघ प्रजातंत्र से ही निर्मित परंतु प्रजातंत्र के शत्रु तानाशाह बने। भावी विश्व वैज्ञानिक समाज होगा जो या तो 'रक्तपात का समुद्र इस दुनिया को बना देगा या फिर एक आनंद-पूर्ण नंदनवन।' इस समाज में संपूर्ण व्यक्ति-स्वातंत्र्य होगा। साम्यवाद श्रम का महत्व बढ़ाता जाता है, और अवकाश का महत्व कम करता है। परंतु रसेल के अनुसार सच्ची संस्कृति अवकाश में से ही उपजेगी; अतः अवकाश बढ़ाते जाना ही भावी समाज का लक्ष्य होगा।

रसेल और शिक्षा-शास्त्र

रसेल ने गणित, तर्क, अध्यात्म नीति-शास्त्र, समाज-विज्ञान, राजनीति तथा अर्थ-शास्त्र के समान ही शिक्षा-शास्त्र पर भी काफी विचार किया है। रूसो की भाँति वह साहसिक शैली से अपने शिक्षासंबंधी मत प्रतिपादित करता है। उसके अनुसार शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है चरित्र या व्यक्तित्व तथा विवेक का निर्माण। विकास की विभिन्न अवस्थाओं में वह कैसे संभव है इसका विशद विवेचन वह करता है। रूस से निराश होकर जब वह चीन गया तब उसे उस 'निरर्थक और व्यर्थ' समझे जानेवाले ज्ञान की महत्ता जान पड़ी। रूस के बारे में उसने पाया कि वह तो एक प्रकार का बड़ा सा फ्रांस बनने जा रहा है : खेत-भालिकों का एक बड़ा-सा राष्ट्र। केवल पुराना सामंतवाद मिट गया है परंतु एक नये प्रकार की हुकूमत आ गई है जो स्वतंत्र विचार और उधार को उतनी ही क्रूरता से नियंत्रित करती है जितनी कि उसके पूर्वकी सरकार। अतः 'न्यूयार्क वर्ल्ड' पत्र को मई ४, १९२४ में दी हुई मुलाकात (इंटरव्यू) में वह चीन को दुनिया का सबसे बड़ा राष्ट्र बतलाता है। वह न केवल संख्या और संस्कृति की दृष्टि से परंतु समझदारी की दृष्टि से महान राष्ट्र है। 'मैं अब सोचने लग गया हूँ कि गोरी जाति जितना मैं मानता था, उतनी भ्रष्ट नहीं। यदि योरप, अमेरीका युद्ध से मर जाँय तो

दुनिया की संस्कृति नष्ट नहीं हो जायगी, शिक्षा में अनुशासन, धार्मिक शिक्षा, सेक्स की शिक्षा, साम्यवादी समाजमें शिक्षा आदि पर रसेल ने बहुत स्पष्ट और क्रांतिकारी विचार व्यक्त किये हैं। जिस ज्ञानको हम अक्सर फिजूल कह देते हैं, उसकी प्रशंसा करते हुए 'दी यूसलेस नॉलेज' नामक निबंधमें वह लिखता है—'यह ज्ञान जो बहुत उपयोगी माना जाता है, क्या सचमुच उपयोगी है? और इसके मूलाधारमें बहुत सा 'निरूपयोगी' ज्ञान भी है। 'निरूपयोगी' ज्ञान हमारे मानसिक संस्कार में अत्यंत आवश्यक है। वह हमें उदार बनाता है, विचार शील बनाता है, वह हमें इस जीवन की क्षुद्र व्यवहारिकतासे ऊपर उठाता है। वह हममें कलात्मक, निर्माणात्मक वृत्तियों को जगता है। रसेल के अनुसार विद्यार्थी का चुनाव उसकी योग्यता के अनुसार होना चाहिये, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा उसके किसी विशेष संपन्न वर्ग से आनेके कारण नहीं। स्पेन्सर की भाँति वैज्ञानिक शिक्षा का रसेल अधिक महत्त्व देता है। शिक्षा के क्षेत्र में वह रूढ़ियों को नहीं मानता। 'शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था' में वह धार्मिक शिक्षा पद्धति का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित करता है—“मान लीजिए कि इन धार्मिक शिक्षा-शान्त्रियों को यह पढ़ाना हो कि $2+2=4$ तो वे कहेंगे—‘यह महान सत्य है, बड़े-बड़े दफ्तरवाले मानते हैं; हमारे बड़े बड़े राष्ट्र-नेता भी इसे मानते हैं; रस के टिकट धर की सिड़की का बाबू भी अपने बहुत व्यस्त कार्य में भी यह बात मानता है। जब एक भोला बच्चा अपने छोटे भाई के लिये पेपरमिट की गोली खरीदता है तब यही सिद्धांत मानता है; उत्तरी ध्रुव प्रदेश के एस्किमो मछली मारने के बाद जब उन्हें गिनते हैं, तब इसी बात का आश्रय लेते हैं। क्या इतना व्यापक सर्वसामान्य मत किसी गहरी आध्यात्मिक आवश्यकता के बिना अस्तित्व में आया? क्या हम उस सदा निंदा करनेवाले संशयवादी की बात मानें कि जो हमारी यह सांस्कृतिक धरोहर हम भौतिकवादी कोलाहल में खो देना चाहता है? नहीं, त्रिवार नहीं, कदापि नहीं!’ परंतु यह शंका की जा सकती है कि इस पद्धति से बच्चे गणित अधिक अच्छी तरह नहीं समझ सकते।”

उपसंहार

ऊपर के विवेचन में बर्ट्रैंड रसेल के दर्शन का केवल रूपरेखात्मक परिचय मात्र दिया गया है। विस्तृत चर्चा एक छोटे से लेख में संभव भी नहीं। परंतु रसेल का दर्शन आज के भारत में, संक्रांतिकालीन चिंता-कुहेलिका में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकता है—यदि उसे सही ढंग से पढ़ा जाय। वैसे तो दर्शन के क्षेत्र में मतभेद की पर्याप्त अवसर है ही। 'रसेल वाक्य प्रमाणम्' मानने का प्रश्न ही नहीं उठता, चूँकि वह स्वयं एक घोर संशयवादी है। हिंदी में वैसे ही पश्चिमी दर्शनशास्त्र और विचारकों

की परिचयात्मक बहुत ऊपरी-उपरी तौर से लिखी दो-चार ही किताबें हैं ; तब क्या हम आशा करें कि सुकरात, अरस्तू से लगाकर देकार्त, लाक, ह्यूम, बर्कले, स्पेनोज़ा, लाइब्निज़, कांट, हेगेल, फ़िख्टे, नीत्शे, शापेनहार आदि माध्यमिक काल के तथा जेम्स, क्रोचे, बेर्गसां, ड्यूई, रसेल, हाइटहेड आदि आधुनिकतम चिंतकों पर एक-एक स्वतंत्र अध्ययनपूर्वक लिखी गयी पुस्तक निकले, जिसमें भारतीय दर्शन का भी तुलनात्मक विवेचन हो । हिंदी में निम्न विज्ञानों पर एक भी पुस्तक नहीं है—नृवंशविकास विज्ञान, नृत्यशास्त्र, चित्रकला (टेकनिकल पक्ष), दर्शन की विभिन्न शाखाएँ, आधुनिक खगोल गणित, उच्च भौतिक विज्ञान, सामाजिक मानवशास्त्र, पुरातत्त्व-विज्ञान, जाति विज्ञान (एथ्नोलौजी), इतिहास-विज्ञान, जिओपॉलिटिक्स, एग्रो बायोलॉजी, साइको-फिजियोलौजी, जीवाणु-विज्ञान, कीट-विज्ञान, पक्षी-विज्ञान, भूकंप-विज्ञान इत्यादि । हिंदी अब राष्ट्रभाषा है, कम से कम संयुक्त प्रांत की सरकारी भाषा है—जहाँ पाँच विश्वविद्यालय हैं और ज्ञान-विज्ञान हमें सब अब हिंदी के माध्यम से देना है—इस ओर हमारी साहित्य-संस्थाओं का ध्यान कब जायगा ?



देवराज

नववसंत, आ !

नये वर्ष, नव वसंत आ !
नये फूल, नयी गंध,
नव पराग ला ।
नष्ट हों पुरातन की
लक्ष्मि भ्रांतियाँ
युग-युग के द्वेष-दहन
कटु अशांतियाँ ;
देश-देश जन-जन में
मानव-उर जीवन में
नव विकाश, नव परिमल,
नव श्रुति फैला ।
नये वर्ष, नव वसंत आ !
जन-मन में हो प्रबुद्ध
नयी चेतना
नया आत्म भाव नयी
ब्रंधु-भावना
कूटनीति-नागिनी का
खंडित हो गरल-दशन,
मानव का मानव से
सहज सरल मनोमिलन ;
गर्व का तुषार, शीत
मद का हटा
नये वर्ष, नव वसंत आ !

गणेशप्रसाद द्विवेदी शाम का मेहमान

पात्र—

जगदीश—

विमला—उसकी नव विवाहिता थी

उमेश—जगदीश का वाल्य बंधु

गजाधर—नौकर

[जगदीश और विमला बैठक में चायपर बैठे हैं, चाय खतम पर है; इसी वक्त बाहर कोई थपथपाता है]

उमेश—मे आई कम इन सर—?

जग०—कौन साहब हैं—?

उमेश—मैं हूँ, महज एक नाचीज । क्या आ सकता हूँ—?

[साथ ही उत्तर की प्रतीक्षा न कर घुस पड़ता है, और उसके कमरे में प्रवेश करते ही विमला तेजी से भीतर के दरवाजे से निकल जाती है]

—पहचाना नहीं शायद—?

जग०—ओह ! उमेश ! बैटो, बैटो—दाढ़ी मूँछ सफाचट, और चश्मा भी पहन रखता है, और फिर रंग भी ज्यादा गोगा हो गया है ; इस साहबी पोशाक में यकायक शायद ही कोई पहचाने ।

उमेश—डेवदीदार ने भी नहीं पहचाना, उसने दो-चार बातें होने के बाद पहचाना, फिर सलाम किया और बोला 'जाइये, बाबूजी और बहूजी चाय पर बैठे हैं—'

जग०—पर कैसे कोई पहचाने, छः बरस से कम तो न हुआ होगा !

उमेश—बल्कि कुछ ज्यादा ही हुआ होगा, योरप, अमरीका, जापान, सब छान डाला—

जग०—पर यह तुम्हारी ज्यादाती है, हमसे मिले तक नहीं, जिक्र तक न किया और भाग खड़े हुये । कई दिन भेंट नहीं हुई, तो तुम्हारे घर पहुँचा, वहाँ देखा तो कोहराम मचा हुआ है । तुम्हारी माँ ने देखते ही कहा, 'जगदीश आया है इसे जरूर मालूम होगा !' मैं बड़ी मुसीबत में पड़ गया, सोचा अखबार में निकलवायें या हुलिया जारी करायें । किसी तरह समझा-बुझाकर घर लौटा कि तुम्हारा तार मिला कि अमेरिका जा रहे हो । दौड़ा-दौड़ा फिर पहुँचा, सब लोगों को

गणेशप्रसाद द्विवेदी

कुछ तसल्ली हुई। पर तुम भी अजीब आदमी हो कि उसके बाद मुझे तक भी चिट्ठी न लिखी।

उमेश—भई मेरा दिमाग ठिकाने न था। माँ के रुपये चुराकर छिपकर भागा था। पर उसकी सजा भी उन्होंने दे दी, लौटकर फिर उन्हें न देख सका।

जग०—मेरे जीवन में भी बहुत से उलट-फेर हो गये। पिताजी गये, शादी हुई।

उमेश—सो तो सम्झा—यही जो श्रीमती जी अभी-अभी मेरे आते ही भाग खड़ी हुई, वही न तुम्हारी स्त्री हैं ?

जग०—भागती न तो क्या करती—? बगैर इत्तला के अगर कोई अजनबी कमरे में यकायक घुस पड़े तो कोई शरीफ औरत क्या करेगी, ? अभी तुमसे परिचय तो है नहीं—

उमेश—ठीक, ठीक, वकालत रहने दो—पर यह वही हैं न जो हम लोगों के साथ युनिवर्सिटी में पढ़ती थीं, और जिनसे तुम्हारी खत-किताबत असें से चल रही थी—वही जिन्हें तुम...

जग०—हाँ, हाँ, वही वही मालती—

उमेश—मालती—? या विमला नाम था जहाँ तक मुझे याद है—?

जग०—नाम वही है जो तुम कह रहे हो, पर मैं उन्हें मालती ही कहकर पुकारता हूँ—

उमेश—ओह, वही पुरानी बात, स्त्री का नाम न लेना चाहिये—

जग०—खैर जो भी हो, पर भाई बड़ी अच्छी लड़की है दो बरस होने को आये शादी हुए, पर एक दिन भी हम लोगों में कोई मनमुटाव नहीं हुआ—!

उमेश—तो तुम दोनों सुखी हुए—

जग०—अब भी सुखी नहीं होंगे—? भाई मैं तो स्त्रियों की पूर्ण स्वतंत्रता का पक्षपाती हूँ। मैंने इन्हें पूर्ण आशा दी दे रखी है।

उमेश—सो सब तो ठीक है, पर मैं जरा दूसरी तरह से देखता हूँ—

जग०—वो क्या—?

उमेश—वह यह कि औरत को आप आजादी देनेवाले कौन होते हैं ? वह योही...

जग०—हाँ, हाँ, बात एक ही है, यानी मैं उनकी किसी इच्छा का विरोध नहीं करता, मैं स्त्री को अपनी संपत्ति नहीं समझता—

उमेश—तुम क्यों समझोगे पर वह तो उसके समझने की बात है, वास्तव में स्त्री ही पति को अपनी संपत्ति समझती है—

जग०—अब यह तो तुम जानो भाई हम लोग तो बड़े —

उमेश—सुखी हैं ; होना ही चाहिये ; “लव मैरेज” है न !—अभी कहा न कि दो बरस के बीच एक दिन के लिये भी बेमुगपन नहीं पड़ा हुआ—पर मैं तो इसे अच्छा

आसार नहीं समझता । कहीं तुम्हारी जगह में होता, तो अब तक शायद अल-विदा तक की नौबत आ जाती—

जग०—यह क्या—जान पड़ता है विलायत जाकर भी स्त्रियों के संबंध में तुम्हारे विचार अब भी वही हैं—

उमेश—वही क्या—?

जग०—यही तो तुम अक्सर कहा करते थे कि—‘मैं औरतों से घृणा करता हूँ ।’

उमेश—अरुं करता हूँ और मरते दम तक करूँगा—तुम लोग सिर्फ अपनी हविस की निगाह से औरत को देखते हो, इसी से तुम्हारे नजदीक वह देवी, अप्सरा, सजनी हृदयेश्वरी, और जाने क्या क्या जान पड़ती है ।

जग०—तुम्हारी यह राय यूरोप और अमरीका की स्त्रियों को देखकर बदली नहीं ?

उमेश—बदलेगी तो क्या और भी पकी हो गई । हमारे देश में औरतें घूँघट काढ़कर या बुरका ओढ़कर अपनी दीनता ढक कर जनान खाने में गुम गुम बैठी रहती हैं, और वहाँ सब बात खुलम-खुल्ला है बस यही इतना फर्क है । औरत सब जगह औरत ही है ! साज-बाज पोशाक पहनने से लेकर—क्लास रूम, आफिस रूम तक औरत बस ‘सेक्स’ है और कुछ नहीं, सर से पैर तक सेक्स !

जग०—देखो उमेश—विलायत के लिए चाहे यह बात ठीक हो पर हमारे देश में स्त्री सेक्स के अलावा और भी कुछ है ।

उमेश—उहो भी, तुम्हारी यह स्त्री मूर्ति में नहीं गुनना चाहता मैं कह चुका हूँ सभी जगह स्त्री है । वह अभिनय की साकार-प्रतिमा और सेक्स की मूर्तिमती आत्मा छोड़कर और कुछ नहीं । और अपने को चरितार्थ करने के लिये वह हृद दर्ज की धूर्त, स्वार्थी, और विश्वास घातक तक हो सकती है ।...

[भड़ से कोई दरवाजा बंद होता है]

यह क्या हुआ—?

जग०—देख तो रहे हो—सब सुन रहीं थी दरवाजे की आड़ से—

उमेश—देखो...! अपने संबंध की बातों को छिप कर सुनने की इस आदत पर जरा गौर करो—अच्छा एक कप चा पिला सकते हों—?

जग०—क्या खूब—। अरे गजाधर...!

[एक नौकर आता है]

ग०—मुझे बुलाया बाबूजी—?

जग०—हाँ ; चा लाओ—और देखो बहूजी से कह दो यह हमारे दोस्त आज हमारे साथ खाना खायेंगे, और रात को यहीं रहेंगे भी ।

ग०—बहुत अच्छा ।

[प्रस्थान]

उमेश—खाना भी होगा और रात को रुकना भी पड़ेगा ?

जग०—जनाब...। खाना भी होगा और रुकना भी पड़ेगा, आज तो मैं तुम्हें छोड़ता नहीं—इतने दिन बाद मिले हो ।

उमेश—तुम क्या समझते हो कि स्त्री के संबंध में मेरे यह विचार सुन कर भी तुम्हारी बीबी मुझे एक मिनट भी रुकने देंगी...?

जग०—चुप भी रहो—मालती को अभी तुम जानते नहीं...वह ऐसी नहीं है—टहरो मैं जरा परिचय तो करा दूँ :—(ऊँची आवाज से)—अरे मालती, सुनो तो—उमेश से काहे का परदा ? इनकी बात तो मैं तुमसे किया करता था—यह हमारे...

[गजाधर आता है]

ग०—बहूजी ने कहा है अभी ही बुआ जी के यहाँ चलना है, न जाने से वह बहुत अफसोस करेंगी—

जग०—अच्छा, अच्छा, रहने भी दे अभी, चाय तो ला—

ग०—चा नहीं बन सकेगी ; घर में दूध नहीं है, बहूजी ने होटल से चा ला देने को कहा है ।

उमेश—(टहाका लगा कर हँसने के बाद) सुना जगदीश, ! क्या कहा था मैंने ? सुन लिया...?

जग०—यह तुम्हारे साथ मजाक किया जा रहा है । वह—बुआ जी के यहाँ लड़के का तिलक है, आज हम लोगों के अभी वहाँ जाने की बात तो थी—

उमेश—तों जाओ ना—मैं भी चलूँ—

जग०—पागल हुए हो इतने दिनों बाद तुम्हें पकड़ पाया हूँ आज तो किसी तरह नहीं छोड़ूँगा—अच्छा ठहरो मैं अभी आया ।

[प्रस्थान]

[उमेश एक सिगरेट जलाता है और गजाधर को बुला कर उससे बातें करना शुरू करता है]

उमेश—तुम कितने दिन से यहाँ काम करते हो गजाधर ?

गजा०—जी साल भर हुआ होगा ।

उमेश—रसोई तुम्हारी बहूजी करती हैं या रसोइया है ?

गजा०—जी रसोइया है ।

उमेश—(जेब से पैसा निकाल कर) अच्छा देखो होटल से एक प्याली चाय तो लाओ जल्दी से—

[गजाधर संकोच के साथ पैसा लेकर चला जाता है ; गजाधर के जाने के बाद उमेश आलस्य भाव से अँगड़ाइयाँ लेता, सिगरेट पीता हुआ कमरे में टटलने लगता है और दीवार पर टंगी तस्वीरों पर निगाह डालता हुआ विमला की एक बड़ी तस्वीर के नीचे खड़ा होकर उसे ध्यान से देखने लगता है । इसी समय विमला का हाथ पकड़े जगदीश कमरे में आता है । स्पष्ट है कि विमला इच्छा के विरुद्ध लाई जा रही है]

जग०—यह लो भाई लाया घसीट कर इन्हें—अब आपही परिचय करा दें—

उमेश—पर यह घसीटने की नौबत क्योंकर पैदा हुई ? खामखा क्यों तकलीफ दी आपको ।

जग०—तकलीफ काहे की ; 'तथा कथित' परदे में हम लोगों का विश्वास नहीं है, यह तो समझ ही गये होंगे...

उमेश—यह तो पहले से ही मालूम था, पर ये परिचय वाली रसम की क्या कोई खास जरूरत है ? और फिर परिचय मिलने में अब बाकी क्या रहा ? जो कुछ बाकी था वह भी मिल गया । जब घर में आये हुए मेहमान और पति के पुगने मित्र के लिये आपने होटल से चाय मँगा कर पीने को कहलाया ।...

वि०—(पति से) और आपका परिचय क्या मुझे नहीं मिला ? जिसके घर आये हैं उसे देखने के पहले ही जो उसे धूर्त, स्वार्थी, विश्वासघातक, और नीच कह सकते हैं उनके परिचय का मैं कोई प्रयोजन नहीं समझती ।

उमेश—(आगे बढ़ कर कुर्सी पर बैठता हुआ) देखिये यह 'नीच' वाला विशेषण मेरे ध्यान में उस समय नहीं था, शायद मैंने नहीं कहा । इसका प्रयोग आप स्वयं कर रही हैं, और इसलिये आपको धन्यवाद ।

जग०—क्या खूब !! तुम लोग तो एकदम एक दूसरे पर टूट ही पड़े, सामना होते ही बाकायदा झगड़ा शुरू कर दिया —

उमेश—भई इन लोगों के साथ मेरा झगड़े का ही संपर्क है । हमेशा इनसे झगड़ा ही किया है, आज भी करूँगा—

[गजाधर दुकान से बनी-बनाई एक प्याली चा लेकर आता है और उमेश हाथ बढ़ा कर ले लेता है ।]

वि०—चा क्या होटल से ही आई—?

उमेश—जी हाँ । जिसके घर में सब कुछ रहते हुये भी कुछ नहीं रहता उसे बाहर का सहारा लेना ही पड़ता है ।

वि०—सब कुछ होते हुए भी जो अनजान की तरह 'कुछ नहीं है' कह कर अस्वीकार कर दे उसकी किस्मत ही छोटी माननी पड़ेगी ।

उमेश०—(चा की चुभकियाँ लेते-लेते) उसकी किम्मत जैसी भी हो इसके लिये उसे अफसोस नहीं होता ।

वि०—(हँस कर) बहस से कोई फायदा नहीं, (पति से) बुआ जी के यहाँ चलना है या नहीं...?

जग०—न जाने से बुरा मानेगी न ? अच्छा एक काम क्यों न करें । मैं चटपट मोटर लेकर उनके यहाँ से होता आता हूँ, तब तक तुम लोग भगड़ा करो, (भपट कर दरवाजे की ओर बढ़ता है, फिर तेज़ी से लौट कर—) पर देखना पुलिस वगैरह बुलाने की नीयत न आवे—

उमेश—पर यह तो तुम मुझे 'शत्रु राज्य' में छोड़ कर भगे...बिट्टेगल—? क्या मित्र का यही धर्म है—?

[दरवाजा भेड़ते-भेड़ते]

जग०—कोशिश करके देखो—हरा सकते हो—? मैं कहीं दूर थोड़े ही हूँ...

[प्रस्थान]

उमेश—सुना आपने—? अब पदार्पण कीजिये—समर-भूमि में—

वि०—जनाब लड़ाई के मैदान में भी औरतों ने मर्दों को नीचा दिखाया है—मिसालें दी जा सकती हैं ।

उमेश—सुनो मालूम है—अनेक उदाहरण खोजने पर मिल सकते हैं, प्राकृति का ज्या-पक नियम अनादि काल से यही चला आया है कि स्त्री को पुरुष की वश्यता स्वीकार करके ही रहना होगा । यह अटल नियम है ।

वि०—'बंधुत्व' का नाम आप लोगों ने रखा 'वश्यता' । नारी संगिनी न होकर हुई आप लोगों की दासी, सेविका । और इसी पाप से भारत की आज यह दुर्दशा हो रही है ।

उमेश—(कुछ हँसकर) दासी न बनाकर जिन देशों ने स्त्री को बंधुत्व दिया है वहाँ की हालत भी मैं अपनी आँखों से देख आया—

वि०—क्या देखा वहाँ—?

उमेश—देखा आज जो बंधु है वही कल परम शत्रु हो जाता है । शांति का नाम तक नहीं है किसी परिवार में ! 'गृह' नाम की वहाँ कोई वस्तु नहीं है ।

वि०—गृह और घर गिरस्ती—तो क्या आपके इसी देश की विरासत है—? आप क्या सचमुच ऐसा समझते हैं—?

उमेश—निश्चय—उदाहरण के लिये आप अपनी ही गिरस्ती को लीजिये—शादी के पहले ही दोनों जनों एक दूसरे को प्यार करने लगे थे, पत्र-व्यवहार चला । और

वह सब चिट्ठियाँ मैंने पढ़ी है, इसी से कहता हूँ ! और उसके बाद फिर आप दोनों का संसार बड़े मजे में तो चल रहा है ।

वि० — जाने दीजिये मैं और नहीं सुनना चाहती—(होठों के नीचे हँसी दबाने की कोशिश करते हुये) शादी के पहले—मैं आपके दोस्त को चिट्ठी लिखा करती थी, किसने कहा...?

उमेश—ना, ना, उत्तेजित न होइये, अगर मैंने खुद उन चिट्ठियों को न पढ़ा होता तो आप उनकी बात हँस कर उड़ा भी दे सकती थीं । और यहीं तक नहीं, जो चिट्ठियाँ आप के पास तक पहुँचती थीं उसका ज्यादातर हिस्सा मैं ही लिख दिया करता था ।

वि० — (कुछ लजा कर) जाइये, पर आपने जो कहा आप औरतों को घृणा करते हैं ।

उमेश—करता तो हूँ—जरूर करता हूँ ।

वि० — झूठ बात, मैं विश्वास नहीं कर सकती !

उमेश—क्यों ? विश्वास न करने की क्या बात पायी आपने ?

वि० — उन चिट्ठियों का आधा तो बहुत होता है—जो उसमें का एक वाक्य भी लिख सकता है, वह चाहे जो हो, स्त्री को घृणा करनेवाला नहीं हो सकता ।

उमेश—मान लीजिये, यह आज बहुत दिन को बात है । वह सब बदल भी तो सकता है ।

वि० — पर आपके दोस्त ने मुझे बताया है कि आप उसके भी पहले से अपने को स्त्री-विरोधी और औरतों से घृणा करनेवाला कहके प्रचार करते आ रहे हैं ।

उमेश—प्रचार करता आ रहा हूँ, यानी मैं वास्तव में नारी-द्रोही नहीं हूँ ?

वि० — कभी नहीं । आप बनते हैं—। हम लोगों की कमजोरी ठीक कहाँ है इसे आप खूब समझते हैं, और उससे.....(हँसती हुई) ज़रा ठहरिये मैं आई—

[विमला अंदर जाती है । उमेश सिगरेट पीता-पीता फिर विमला की तस्वीर पर निगाह जमा देता है । इसी समय गजाधर आता है प्याली वापस ले जाकर होटल में जमा करने के लिये]

उमेश—भाई गजाधर, खूब याद दिलाई तुमने, एक प्याली चा और ला तो दो वहीं से, यह ज़रा ठीक नहीं थी ।

[विमला कमरे में आती है]

वि० — यह क्या हो रहा है ? फिर चा ? गजाधर, नहीं—अब मत लाना । खाना तैयार हो गया है । तू रसोई में जा परोसने को कह महराज से—

[गजाधर चला जाता है]

उमेश—खाना—? खाना तो मैं नहीं खाऊँगा यहाँ ।

गणेशप्रसाद द्विवेदी

वि०—क्यों ? (हँसकर) होटल से चा लाकर देने को कहा था इसी से—?

उमेश—वेशक—! और अब मैं चला । जगदीश से कह दीजियेगा अगर मुझसे कभी मिलना हो तो मेरे घर पर आवे !

[उठकर दरवाजे की ओर बढ़ता है]

वि०—(दौड़कर दरवाजे पर पहुँच दोनों हाथ फैलाकर रास्ता रोकती हुई) नहीं-नहीं बिना खाना खाये आप नहीं जा सकते ।

उमेश—पर मुझे जाना चाहिये । औरतों से अपमान सहन करने की आदत मुझे नहीं है ।

वि०—(दुःखित स्वर से) मैंने आपका अपमान किया है—?

उमेश—निश्चय किया है ।

वि०—ऐसा—? तो मैं उसके लिये सजा चाहती हूँ । अब हुआ—?

उमेश—(कुछ क्षण एक टक विमला की ओर देखता हुआ) अच्छा, फर्ज कीबिये इस बार क्षमा ही कर दिया । (कुर्सी पर बैठता हुआ) अच्छा आपका क्या ख्याल है—जगदीश को आप सुली कर सकी हैं ?

वि०—दूसरे के मन की बात मैं कैसे जान सकती हूँ, बताइये ?

उमेश—अच्छा तो न हो अपने ही मन की कहिये । आप क्या जगदीश को पाकर सुली हुई हैं ?

वि०—यह सब बातें जानने से आपका लाभ—? आप इन बातों को क्यों जानना चाह रहे हैं ?

उमेश—क्यों जानना चाह रहा हूँ ? इसलिये कि मैं जानता हूँ कि हमारे देश के अधिकांश विवाहों से सुख की जगह दुख ही मिलता है, शायद ही हजारों विवाहित दंपतियों में कोई एकाध ऐसे हों जो वास्तव में अपने को संतुष्ट कह सकते हों और जो कहते भी हैं वह बनते हैं ; दुनियाँ को दिखाने के लिए । ६६ पीसदी शादियाँ, दस दिन बाद ही परेशानी, जहमत, दुनियाँ भर की भंगटों का ही कारण होती हैं.....इसका कारण क्या है, और इसका प्रतिकार ही कैसे हो सकता है ?

वि०—अच्छा, अच्छा ठहरिये, यह सब ज्ञान की बातें हम लोगों की समझ में नहीं आती, समझने लायक अकल भी तो नहीं हैं ; (लज्जा से मुँह नीचा कर) अच्छा बताइये तो आप इस तरह एकटक मेरी ओर क्यों देख रहे हैं, ? मुझे सचमुच बड़ी लज्जा लग रही है ।

उमेश—क्यों देख रहा हूँ, यह भी कह कर बताना पड़ेगा ? इसलिए देख रहा हूँ कि आप असाधारण सुंदरी हैं ।

वि० —पर असाधारण सुंदरी तो मैं नहीं हूँ ।

उमेश—अपनी सुंदरता स्वयं आज तक कोई समझ सका है ?

वि० —स्वयं न समझ पाने पर आपकी तरह नारी-द्रोही, स्त्री-शत्रु की लोलुप दृष्टि बीच-बीच में मुझे यह बात समझा सकती थी (कह कर खिलखिला कर हँस पड़ती है) ।

उमेश—आप फिर मेरा अपमान कर रही हैं । इस दफा मैं नाराज होकर अगर सच-मुच चला जाऊँ ?

वि०—जाने दूँगी ही नहीं, लौटा लाऊँगी ।

उमेश—और अगर खाना न खाऊँ ?

वि०—खाना भी आप जरूर खायेंगे—आप भूखे हैं—

उमेश—पर मेरी यह भूख मिटने की नहीं—

वि०—राक्षसी भूख अगर हो तो अलबत्ता न मिटने की बात है—अरे गजाधर ।
(ऊँची आवाज से) ओ गजाधर !
[गजाधर आता है]

वि०—(उठती हुई) साहब का खाना लाने को कहो—
[जाता है]

उमेश—पर एक बात है, रात को खाना खाने के बाद फिर मैं हिल-डुल नहीं सकता, मेरी आदत ही ऐसी है । रात को फिर यहीं सोना भी पड़ेगा ।

वि०—खाना भिलने पर लेटना चाहना ; यह सिर्फ आप ही का नहीं मनुष्य-मात्र का स्वभाव है ।
[थाली लेकर महाराज आता है]

मह०—कहाँ रखूँ बटूजी—?

वि०—रखो इसी टेबल पर रखो, ये विलायत से लौटे हुये आदमी हैं, इनको यहीं पसंद आवेगा । ला मुझको दे—मैं—
[महाराज के हाथ से थाली लेकर टेबल पर रखती है और गजाधर एक तश्तरी में पानी लाता है, विमला गिलास लेकर टेबल पर रख देती है । महाराज और गजाधर चले जाते हैं]

उमेश—तो शुरू करूँ—? (खाते-खाते) पर पाश्चात्य देशों में यह नियम नहीं है । एक आदमी बैठकर खाय और कोई दूसरा खिलावे—यह वहाँ नहीं चलता । दोनों को साथ बैठकर खाना होता है ।

वि०—पर खिलाकर हम लोग सचमुच सुखी ही होती हैं । वहाँ की सामाजिक प्रथा

गणेशप्रसाद द्विवेदी

स्त्रियों को इस आनंद से वंचित रखती है। पर इन बातों को जाने दीजिये, मैं आपसे एक दूसरी बात पूछना चाहती हूँ, जवाब देना होगा।

उमेश—कौन-सी बात—पूछिये—

वि०—आप क्या कभी शादी नहीं करेंगे ?

उमेश—इरादा तो कुछ ऐसा ही है ?

वि०—पर क्यों, जरा बताइये तो, ऐसा इरादा क्यों हुआ आपका ?

उमेश—सब बातों को 'क्यों' न पूछनी चाहिये—

वि०—(अनुनय के स्वर में) बताइये न—क्या कभी किसी स्त्री ने आपको बोला दिया है ?

उमेश—(गंभीरता से) हाँ दिया है।

वि०—पर सब स्त्रियाँ एक-सी नहीं होतीं। ऐसी भी स्त्री आपको खोजने पर मिल सकती है जो सचमुच आपको प्यार करेगी।

उमेश—पर स्त्री का प्यार पाकर क्या होगा—?

वि०—(हँस कर) क्या होगा...? दुनियाँ का रंग बदल जायेगा, जब तक जिंदा रहेंगे सुख पावेंगे।

उमेश—आपको क्या वह सुख किसी दिन मिला है ?

वि०—आप हर बात में मुझे क्यों प्रसीटते हैं, जरा बताइये तो ? (कुछ उत्तेजित हो) बरम के लिये मान लिया वह सुख आज तक मुझे नहीं मिला, तो भविष्य में पाने की आशा तो रखती हूँ।

[इसी समय अचानक जगदीश आता है]

जग०—अरे बाह ! क्या खूब मजलिस जमा रखी है, इसी बीच सुलह भी हो गयी।

उमेश—तो तुमने क्या सोचा था, हम लोग लड़ते ही रहेंगे ?

जग०—भई मैंने (एक कुर्सी खींचकर बैठता हुआ) तो सोचा था, पहुँचते ही, पुलिस में खबर करनी होगी। तुम्हें तो मैं खूब पहचानता हूँ, और स्त्रियों के संबंध में तुम्हारे जैसे विचार हैं—

उमेश—तो इसी विश्वास पर तुम इन्हें अकेली मेरे पास छोड़ कर चले गये थे ?

जग०—(ठहाका लगा कर हँस लेने के बाद) अजी नहीं जी, अच्छा तो तुम लोगों में खूब मेल-मिलाप हो गया यों कहो—

उमेश—इसमें भी तुम्हें शुबहा है—? देखो यह हमेशा याद रखो :—ब्रह्मा ने स्त्री और पुरुष इन दो जीवों को केवल आपस में मेल करने के लिये ही बनाया है।

जग०—(और जोर का ठहाका लगाता हुआ) ठीक, ठीक, तो यों कहो कि स्त्रियों के संबंध में तुम्हारे पुराने विचार अभी दस मिनट के अंदर बदल गये।

उमेश—(गंभीरता से सिर हिलाता हुआ) हाँ कुछ बदले तो हैं जरूर, इसमें कोई शक नहीं ।

जग०—(विमला की ओर कनखियों से इशारा करता हुआ) तो मानना पड़ेगा, इसमें इनकी बहादुरी है—

उमेश—हजार बार, सोलह आने इनकी बहादुरी है ।

[भोजन समाप्त कर पानी पीता है]

वि० — यह क्या, खा चुके ? नहीं दो कचौड़ियाँ और लेनी ही पड़ेगी, और यह खीर नहीं छोड़ सकेंगे आप—

उमेश—पर और जगह तो नहीं रही पेट में, अच्छा आपकी बात नहीं टाँखेंगा —

[फिर खाने लगता है ; इस बीच जगदीश एकटक दोनों के मुह की ओर ध्यान से देखता रहता है]

जग०—तुम इस तरह क्यों बैठे हो, इनके हाथ धोने का पानी, पान बगैरह लाओ—

उमेश—(जगदीश के भुँह की ओर देखता हुआ) पान मैं कभी नहीं खाता तुम खूब जानते हो...

जग०—पर हाथ धोने का पानी तो चाहिये ही—

वि०—(थोड़ा हँस कर) पर इसके लिए तो तुम्हारे घर में नौकरों की कमी नहीं है ।
अरे गजाधर, ओ गजाधर ।

[खुद न उठती हुई गजाधर को बुलाती है । गजाधर तोलिया, पानी बगैरह लेकर आता है और उमेश उसके पीछे पीछे बाहर चला जाता है]

वि०—(पति से) कह रहे थे कि खाने के बाद मैं हिल-डुल भी नहीं सकता । रात यहीं रहूँगे । बिस्तर उगका कौन से कमरे में लगानाऊँ ?

जग०—तुम्हें कुछ नहीं करना होगा, मैं अभी सन हॉनजाय किसे देता हूँ ।

[तोलिया से हाथ पोंछता हुआ उमेश आता है]

उमेश—भाई खूब डट कर खाया—अब अगर जरा पाँव फैला सकूँ तो जान बचे ।

जग०—और रात भी काफी हुई—(कलाई धड़ी देखता हुआ) अच्छा एक काम करें, नीचे अभी मोटर खड़ी ही है, चलो मैं खुद तुम्हें घर पहुँचा आऊँ ?

उमेश—(भौंचक हो एक चकित दृष्टि जगदीश के चेहरे पर डालता है, एक क्षण, फिर जेब से सिगरेट और दिया सलाई की डिबिया निकाल, इतमिनान से जलाता हुआ एक बार विमला की ओर देखता है, और यों ही थोड़ा हँस पड़ता है, और फिर जगदीश से)—नहीं, नहीं मोटर क्यों, अकेले टहलना मुझे बड़ा अच्छा लगता है । तुम्हें और ज्यादा तकलीफ नहीं दूँगा—

गणेशप्रसाद द्विवेदी

जग०—तो क्या हुआ, तकलीफ की क्या बात, इतने दिन बाद दो मिले हो, चलो दोनों जाने गप्पें लड़ाते हुए साथ ही चलें—

[उमेश को एक तरह से घसीटता हुआ ही दरवाजे की ओर बढ़ाता है ; और वह गर्दन मोड़ कर विमला की ओर देखता, हँसता हुआ जाता है । फिर विमला से—]

उमेश—आपको 'गुडनाइट' कहूँ या विदा माँगूँ, ठीक क्या कहूँ समझ नहीं पा रहा हूँ, विमला देवी ;— बहुत-सी बातें बक गया, कुछ खयाल मत कीजियेगा ।

[विमला एक क्षीण, म्लान हँसी के साथ नत मस्तक हो हाथ जोड़ ; ललाट तक जुड़े हाथों को ले जाकर प्रणाम करती है । जगदीश और उमेश चले जाते हैं । विमला तब भी वहीं चुपचाप ज्यों की त्यों आत्म-विभोर-सी खड़ी रह जाती है ।]

[धीरे-धीरे यवनिका ।

उपसंहार

‘प्रतीक’ के इस वसंत अंक से हम पट्टश्रुतियों का अपना चक्र संपूर्ण करते हैं—यह और बात है कि हमारी सभी ऋतुएँ कालांतरित होकर आयीं। वसंत अब आया है जब ग्रंथ की आतप से आप व्याकुल हैं। पर आभ के हमारे उभाव प्रचुर जीवन में कुछ भी तो समय पर नहीं होता—मृत्यु अवश्य होनी है और समय से पहले!—खाना-पीना, सोना-बैठना, आना-जाना, काम काज, यश कीर्ति-लाभ, गाड़ी-ट्रैम-बस का चलना, क्या है जो समय पर होता है! यहाँ तक कि नियम-अनुशासन भी समय पर नहीं तैयार होते, उनका पालन तो खैर कभी होता ही नहीं। सरकारी अड़ंगेवाजी और व्यापारिक अराजकता के इस युग में कैसे कोई ईमानदार प्राणी जी सकता है यह संदिग्ध है—हमारा जीवन यदि संदेहशील है तो यह इस बात का कदापि प्रमाण नहीं है कि हम उसी सीमा तक प्रामाणिक हैं! लेकिन कटु सत्य यही है कि हमारे सामाजिक जीवन के आधार ही ढाँवाडोल हो गये हैं और कोई बहुत बड़ा चमत्कार ही—यद्यपि अब चमत्कारों का लोप हो चुका है!—समाज-व्यवस्था की इस गिरती दीवार को सभाल सकता है। हमारे सभी अंक लगभग एकाध-मास या न्यूनाधिक विलंब से निकल सके इसके मूल में मुख्यतया उत्पादन के साधनों का अभाव था—और सबसे बड़ा साधन है अर्थ जिसका अभाव सभी भले लोगों को कष्ट पहुँचाता है और वही अभाव हमें उनकी प्रतिष्ठित श्रेणी में पहुँचा देता है। कभी कागज था तो मुद्रण की सुविधा न थी, और यदि प्रेस था तो कागज न था, और यदि ये दोनों थे तो छापने की सामग्री न थी। इसलिए ही किसी एक पर या सब पर दोष देकर हम स्थिरचित्त होकर नहीं बैठ सकते। यह दयनीय स्थिति क्यों उत्पन्न हुई और क्यों है? या यह कि यदि ये कठिनाइयाँ न हों और एक दिन प्रातः उठकर हम आँखें मलकर देखें कि सुंदर से सुंदर कागज और प्रचुर मात्रा में मिल रहा है; अच्छे-अच्छे बड़े-से-बड़े नये से नये छापने के यंत्र हमारी सारी छापने की सामग्री निगलने के लिए भूखे बैठे हैं, तब क्या यह स्थिति उत्पन्न हो जायगी कि हमारी पुस्तकों के खरीदार न होंगे, पाठक न बचेंगे? हो सकता है, आज यह विलकुल संभव हो सकता है और निमिष मात्र में। कहते हैं, नाज कर नाजवरदार से, मोल कर खरीदार से—लेकिन यदि खरीदार हो ही नहीं तो? यह कहना कठिन होगा कि वह स्थिति अधिक अप्रतीतिकर होगी, या यह कि जिसमें छापने के साधनों का अभाव इसीलिए है कि अच्छा-बुरा

सभी कुछ छापे में आ जाता है, और एक बार छापे में आ चुकने पर उसका धर्मदत्त अधिकार हो जाता है कि वह अपने लिये खरीदार भी पैदा करे।

युद्ध के आठ-नौ वर्षों ने पुस्तक-व्यवसाय के कूड़े कचड़े को भी उसी प्रकार साफ किया जिस प्रकार उसने और सभी निरर्थक पूँजीवादी उत्पादन द्वारा संचित सामग्री को खपा दिया; और यह वही अंतिम पूँजीवादी तर्क है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक बीस-पन्चीस या और भी कम वर्षों में एक युद्ध—महायुद्ध—अनिवार्य हो जाता है और पूँजीवाद का यह अंतिम अलख और सहारा है। हमारे व्यवसाय में जो कुछ भी था, सड़ी-सड़ी पुस्तकें, पुगने-से-पुराने ग्रंथ सभी समाप्त हो गये; कुछ तो इसलिए कि उनकी माँग हमारे सैनिकों के लिए थी, कुछ इसलिए कि सामान्य जनता के हाथ में भी चार पैसे आ गये थे, कुछ इसलिए भी कि वे दोबारा छापी न जा सकीं इसलिए कि और तात्कालिक आवश्यकता की पुस्तकें, यथा उपन्यास-कहानी की पुस्तकें छापनी आवश्यक थीं और कागज-छपाई की जितनी सुविधा प्राप्त हो सकती थी उसमें इन तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी संभव न थी। और युद्ध के उपरान्त हमने लगभग शून्य से फिर अपना पुस्तक-व्यवसाय आरंभ किया और देश की उत्पादन की अराजकता के युग में अभी तक हमें कुछ भी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकी हैं और पुस्तकों की माँग पहले की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गयी है—यद्यपि अभी भी सापेक्ष से अलग वह सर्वथा नगण्य है—और इस लींघातानी के कारण हमारे इस व्यवसाय में भी, और व्यवसायों की भाँति, गति-अवरोध है। सरकारी अडंगेबाजी को स्थिति को और भी असह्य बना देने का श्रेय स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। अच्छे साहित्य—विचारशील लेखकों की कृतियों की आज बड़ी माँग है। इतनी कि वह पूरी नहीं हो पा रही है, पर जैसे-जैसे छपाई की और सुविधाएँ प्राप्त होती जायँगी वैसे-वैसे इतना कुछ नया साहित्य, जो खरा हो यह आवश्यक नहीं है, जो वर्षों की घुटन के बाद अब जीवन प्राप्त करेगा, बाजार को भर देगा और यह जो अच्छा साहित्य है उसकी अवहेलना होगी और इस साहित्य के सृजकों की पुनः दुर्गति होगी। इस नये साहित्य के सृजन में प्रतिभायुक्त नये लेखक भी होंगे यह कहना आवश्यक न होना चाहिए। बहुत संभव है कि ऐसा कुछ न हो क्योंकि अभी तो हमारे देश में साक्षरता नहीं के बराबर है और उसके बढ़ने के साथ-साथ ही पुस्तकों की माँग तेजी से बढ़ेगी, पर आशंका से सचेत रहना भविष्यद्रष्टा के लिए हितकर ही होता है। ऐसे समय में 'प्रतीक'-जैसे पत्र का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। और साथ ही उसका महत्व भी। नयी साहित्यिक परंपराओं का प्रतिष्ठापन, सही आलोचना-मानदंडों का पुनर्स्थापन एवं शक्तीकरण; लेखकों की ख्याति बनाना और बनी हुई मर्यादा और ख्याति का स्थायीकरण ऐसे कर्तव्य हैं जिनके लिए 'प्रतीक' का जन्म हुआ है और जिनके लिए उसका अस्तित्व है। इन कर्तव्यों की पूर्ति 'प्रतीक' ने कहाँ तक की इसके

निर्णय का अधिकार हमारे पाठकों का है। हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों का विस्तार इतना बढ़ा है कि किसी भी साहित्यिक सद्प्रयत्न की सूचना इस संपूर्ण क्षेत्र में पहुँचने में अनेक वर्ष लग जाते हैं—हमारे सूचना देने के साधन भी बहुत ही त्रुटिपूर्ण हैं—और यही कारण है कि हम अभी तक अपने सभी परिचितों तक और उन तक जिनको हमारी चाह है, नहीं पहुँच सके। यदि आप हमारे उद्देश्यों और हमारे प्रयत्नों से सहमत हैं तो आपका यह कर्तव्य हो जाता है कि आप अपने आस-पास के अधिक-से-अधिक लोगों तक हमारा संदेश पहुँचा दें।

लेखकों के सम्मुख आज अनेक समस्याएँ हैं, और उन्हीं से संबद्ध यह प्रश्न है कि क्यों आज उतना उच्च कोटि का साहित्य हमारे सामने नहीं आ रहा है जितना कि आना चाहिए। 'प्रतीक' तक के लिए सामग्री का अभाव सदैव मुँह खोले खड़ा रहता है। आज की सामाजिक व्यवस्था में हमारे नैतिक मानदंडों का इतना हास हुआ है जितना हमारे इतिहास के किसी भी युग में संभवतः नहीं हुआ होगा। आज नैतिकता एक दुर्गुण है और एक अनावश्यक बोझ—और हम उसके अभाव को घृणा से नहीं प्रशंसा से देखते हैं। लेखक सामाजिक प्राणी है और उसकी बुद्धि इस भयंकर स्थिति से कुंठित हो गयी है; वह इस कुंठा से चकित है, दुःखित है और उद्भ्रांत हो गया है और उसका वही अल—उसका लेखन—जो अमोघ है, आज उसे व्यर्थ प्रतीत हो रहा है। सामाजिक चेतना यदि वह जागृत कर सके तो वह अजित हो जाता है; पर न जाने उसका आत्म-विश्वास कहाँ काफूर हो गया है और वह पलायनोन्मुख होकर इतसंश हो गया है। वही स्थिति जो उसे अधिकाधिक संघर्ष—साहित्य-सृजन—की ओर प्रवृत्त और उन्मुख करती, उसे कुंठित और अवरुद्ध कर रही है। तस्वीर के दो पहलू तो सदैव होते हैं और यह कैसा दुर्भाग्य है कि आज का लेखक गलत पहलू की ओर दौड़ पड़ा है। आज की हमारी विषमताओं से बड़ी और कौन-सी विडम्बना हो सकती है जिसमें हमारी कृतित्व-शक्ति कृतकर्म होकर अपने निर्धारित पथ पर द्रुतगति से संचरण करे? आज क्या नहीं है जो हमारी आत्मा को मथकर हमें जीने तक के अयोग्य बना रहा है—राजनैतिक शोषण जो हमारे कुछ क्षण पहले के स्वप्नों का असली रूप है, सांप्रदायिक विषैलापन, वैयक्तिक बैमनस्य और शोषण और अंततः व्यक्ति की अकाल मृत्यु; नैतिक पतन और सामाजिक अवहेलना, चेतना का घुटन और आत्मा का उत्पीड़न; आर्थिक कष्ट और जीवन की न्यूनतम सुविधाएँ, अभाव और अनाचार, गरज कि इतना सब कुछ है जो हमें शुरुआत की भाँति ही रेत में माथा धँसाने के लिए विवश कर देता है और आज की कुंठा के मूल में हमारी यही आत्मिक पराजय है, इस सर्वग्राही पतन के सम्मुख हमारा घुटना टेक देना; और इतिहास इस बात का सच्ची होगा कि हमने अवसर पड़ने पर किस निम्न कोटि की कापुरुषता का परिचय दिया। पर परउपदेश

उपसंहार

और ऊँचे उपदेश देने का दंभ इन पंक्तिओं के लेखक का अभीष्ट नहीं है। वह घरती पर रहता है, समाज के सुख-दुख में हिस्सा बँटाता है, खुली और सँवोँधी भरी हवा में साँस लेता है, भूख और गरीबी खेलता है, प्रेम करता है और घृणा से भर आता है, प्रकाश और उन्मुक्त वायु में हँसता, दौड़ता और खेलता है और जीने की उसको अदमनीय लालसा है—यह सब एक स्वस्थ मानसिक चेतना के प्रतीक हैं और सजग पहचान की भाँति हम सब जागते रहें और प्रतीक्षमान हों कि कब नवविधान, स्वर्णिम विधान का उदय होता है क्योंकि वह अब हमारे अंतरिक्ष की परिधि में है।

हमारी चेतना और बुद्धि और मन पर आज अनेक बंधन हैं। उनसे मुक्ति न मिली तो हम एक ऐसी मानसिक दासता के शिकार हो जायँगे जिससे छुटकारा दुष्कर होगा। आज सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करनेवाले सभी साधन ऐसे लोगों के हाथों में धीरे-धीरे केंद्रित होते जा रहे हैं जो हमारी बुद्धि को जंजीरों में जकड़कर संतोष की साँसें लेते हैं। क्योंकि अन्यथा उनकी जर्जरित, मरणासन्न स्वार्थपरता टिक नहीं सकती। और इसके लिए अब वे खुल्लमखुल्ला युद्धक्षेत्र में आ उपस्थित हुए हैं। यह है एक नवोदित, शक्तिशाली पूँजीवाद जो सबसे पहले हमारी बुद्धि और चेतना पर प्रहार करता है क्योंकि बुद्धि को कुंठित और निष्प्राण किये बिना कोई भी निकृष्ट स्वार्थपरता संभव नहीं है। हमें लगता है कि आज की हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता इस दानव से लड़ने की है, कि हम उसके शक्ति प्राप्त करने से पहले ही उसका काम तमाम कर दें। 'प्रतीक' का जन्म इन्हीं कुप्रवृत्तियों से युद्ध करने के लिए हुआ था और है और हम अपने कर्तव्य के प्रति सजग हैं।

नये वर्ष में हम नयी आशा, नये विश्वास, और सेवा के प्रति पुनर्संगठित आस्था के साथ प्रवेश करते हैं।

—श्री०

इस अंक के लेखक

अकलंक मेहता : के नाम से कहानी-साहित्य के पाठक परिचित होंगे, यद्यपि कुछ वर्षों से इस लेखक की कोई रचना छपी नहीं है। यह छद्म कलाकार एक बहुधंधी व्यक्ति के रूप में छिपा है, जिस पर साहित्य का पुस्तैनी दावा है।

गणेशप्रसाद द्विवेदी : हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से संबद्ध ; एकांकी नाटक रेडियो पर जब तब प्रचारित हुए हैं। एकेडेमी की ओर से 'हिंदी के कवि और काव्य' का संपादन किया था ; अब एक पौराणिक एतिहासिक नामकोश का संकलन कर रहे हैं।

देवराज : छपरा कालेज में हिंदी के अध्यापक, आलोचक और कवि, रचनाएँ 'प्रतीक' में पहले भी आ चुकी हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : से 'प्रतीक' का पाठक भली-भाँति परिचित है।

प्रभाकर माचवे : उज्जैन में दर्शन के प्रोफेसर ; इधर कुछ दिनों से सम्मेलन के लिए 'राजनीति शब्दकोश' का काम कर रहे हैं।

भगवतीचरण वर्मा : प्रसिद्ध कवि, उपन्यासकार और कहानी लेखक ; कुछ महीनों से बंबई छोड़कर लखनऊ आ गये हैं और दैनिक 'नव-जीवन' तथा मासिक 'विचार' का संपादन कर रहे हैं।

मोतीचंद्र : बंबई में प्रिंस आफ वेल्स म्यूज़ियम के कला विभाग के अध्यक्ष हैं। इतिहास, कला और पुरातत्व संबंधी आपके निबंधों से हिंदी पाठक परिचित है। इधर डा० मोतीचंद्र 'काशी का इतिहास' लिख रहे हैं।

म्युरिगल वसी : 'प्रतीक' की परिचित लेखिका ; अब ईरान में हैं।

राय आनंदकृष्ण : सूदम और सुंदर के प्रति विशेष आकृष्ट कहानी लेखक और कला-प्रेमी ; राय कृष्णदास के पुत्र। बनारस।

रामशेरबहादुर सिंह : कवि, आलोचक और कहानी लेखक ; शब्द, ध्वनि और टेक-निक के अन्वेषण में रुचि रखते हैं। कुछ कविताएँ 'प्रतीक' में आ चुकी हैं। प्रयाग।

शांति देववाला : प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० में पढ़ रही हैं। 'प्रतीक' में प्रकाशित कहानी विश्वविद्यालय की कहानी प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ मानी गयी थी।

शीतलसहाय श्रीवास्तव : कवि, पहले 'विश्ववाणी' के संपादकीय विभाग में रह चुके हैं। प्रयाग।

श्रीकृष्ण सक्सेना : दर्शन के प्रोफेसर, अब भारत सरकार के प्रकाशन विभाग में हैं और विदेशों में खपत के लिए एक पत्र का संपादन करते हैं। दिल्ली।

सुरेंद्रनाथ त्रिपाठी : के अध्यन पूर्ण आलोचनात्मक लेख अन्यत्र छपते रहे हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० की परीक्षा दे रहे हैं।



प्रकाशन का १८ वाँ वर्ष

हंस

हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ
प्रगतिशील मासिक

हंस के कहानी लेखक : अज्ञेय, मुल्कराज आनंद, कृष्णचंद्र, अमृतलाल नागर,
रांगेय राघव, वृन्दावनखाल वर्मा, विष्णु, अमृतराय आदि ।

हंस के कवि : शिवमंगल सिंह सुमन, गिरिजाकुमार माथुर, केदार, सरदार जाफरी,
श्रील, रमई काका आदि ।

हंस के निबंध लेखक : डा० रामविलास शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, महादेव
साहा, प्रकाशचंद्र गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन ।

संपादक : अमृतराय, नरोत्तम नागर

हंस का प्रत्येक अंक विशेषांक होता है

वार्षिक ७।।)

एक प्रति ।।।)

आज ही ग्राहक बनिए—एजेंसी के लिए लिखिए ।

हंस कार्यालय,

पोस्ट बॉक्स २२,

बनारस

